भूमिका

'मम्मट' और 'काव्यप्रकाश'

१. मम्मट और काव्य-प्रयोजन-विचार

काव्य-प्रयोजन-विचार की परम्परा अलङ्कारशास्त्र की एक प्राचीनतम परम्परा है। अलङ्कार-शास्त्र में काव्य के उद्देश्य का विचार वस्तुतः काव्यरूप कर्त्तव्य-कर्म की नैतिकता का विचार है। 'काव्य कोरी कविकल्पना नहीं है'—यह सिद्धान्त जिस प्रकार अलङ्कारशास्त्र में काव्य की युक्तियुक्तता (Poetic Logic) की मान्यता में कार्यकर हुआ है उसी प्रकार काव्य की उपयोगिता की मान्यता में भी। 'काव्य एक कर्त्तव्य-कर्म है और उसका उद्देश्य मानव-जीवन की पूर्णता है'-यह है वह उद्देश्य जो कवियों, काव्य-चिन्तकों और काव्य-रसिकों सब के लिये मान्य रहता आया है। काव्य लोक नहीं अपि तु कला है और इसलिये कविकर्म एक लोकोत्तर कर्त्तव्य-कर्म है-इस दृष्टि से काव्य में कवि के प्रयोजन और काव्य-चिन्तक तथा काव्य-रसिक के प्रयोजन की प्रायः एकरूपता ही मानी गयी है। इस मान्यता में भी काव्य की लोकोत्तरता ही कारण है।

नाट्य के अथवा काव्य के-क्योंकि नाट्य और काव्य में अभिनय के बहिरंग और अन्तरङ्ग प्रकाशन का ही तो भेद है-सर्वप्रथम प्रयोजन-विचारक नाट्याचार्य भरतमुनि (३री-४थी शताब्दी) हैं जिनका यह कथन है :—

'वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्। विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥'

और यह भी :—

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्। विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥

—(नाट्यशास्त्र १)

अर्थात् नाट्य सार्वजनिक मनोरञ्जन का एक साधन है और उन-उन विद्याओं, उन-उन ऐतिहासिक घटनाओं किं वा उन-उन विषयों की इतिवृत्त-कल्पना के द्वारा सब को आनन्दित करने के लिये है। लोक में मानव दुःख-शोक से पीडित है, लोक के ताप-संताप की विश्रान्ति जिस कलात्मक उपाय से संभव है वह उपाय है नाट्य (अथवा काव्य)।

भरत मुनि के इस नाट्य-प्रयोजन-दर्शन में लोकायत-मत की 'सुख'-प्राप्ति की गन्ध नहीं अपि तु वैदिक-दार्शनिक विचारधारा की सुख-शान्ति की भावना छिपी है। वेद-शास्त्र के विधि-निषेध के अनुवर्त्तन से जो सुख मिलता है वह क्लेश-बहुल हुआ करता है और नाट्य-काव्य के द्वारा जो सुख मिला करता है वह आरम्भ से अन्त तक रस-मय रहा करता है-यह अलङ्कार-शास्त्र की काव्य-प्रयोजन-सम्बन्धी भावना भरत मुनि से ही प्रारम्भ होती है और संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास के साथ-साथ विकसित होती चलती है।

भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित यह नाट्य-प्रयोजन ही सर्वप्रथम आलङ्कारिक आचार्य भामह (६ ठी शताब्दी) की दृष्टि में काव्य के प्रयोजन के रूप में दिखायी देता है। आचार्य भामह के अनुसार (काव्यालङ्कार १. २) काव्य का प्रयोजन यह है :—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥'

अर्थात् सत्काव्य का निर्माण (और 'साधुकाव्यनिषेवणम्'-पाठ के अनुसार सत्काव्य का अनुशीलन) इन-इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हुआ करता है :—

(१) चतुर्वर्ग–सम्बन्धी शास्त्रों किं वा कलाओं में व्युत्पन्नता अर्थात् इन विद्याओं और कलाओं का मर्मज्ञान।

(२) यशः-प्राप्ति और (३) प्रीति अथवा आनन्दानुभूति

आचार्य भामह ने 'चतुर्वर्ग-सम्बन्धी शास्त्रों और कलाओं में व्युत्पन्नता' को जो काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है वह भी वस्तुतः नाट्याचार्य भरत मुनि के ही आधार पर किया है क्योंकि 'नाट्य' के सम्बन्ध में भरत मुनि का भी यही मत है :—

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला। न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते॥'

(नाट्यशास्त्र २१. १२२)

जिसका तात्पर्य यह है कि कोई भी ज्ञान, कोई भी शिल्प, कोई भी विद्या, कोई भी कला किं बहुना कोई भी कर्म ऐसा नहीं जो 'नाट्य' में न हो—नाट्य का विषय न बने !

आचार्य भामह का दूसरा काव्य-प्रयोजन अर्थात् 'कीर्त्तिलाभ' भरत मुनि के नाट्य-प्रयोजन-निरूपण में निर्दिष्ट नहीं है। 'कीर्त्तिलाभ' को भी काव्य-प्रयोजन मानने का एक प्रयोजन है और वह प्रयोजन है काव्य-कृति को लोक-जीवन की एक उपयोगी कृति के रूप में सिद्ध करना। यश की प्राप्ति मनुष्य की प्रवृत्तियों की एक मूल-प्रेरणा मानी गयी है :—

'यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥' (भारवि किरात० ३य सर्ग)

आज का मनोविज्ञान भी यशःप्राप्ति को मानव-प्रवृत्ति का प्रेरणा-स्रोत मानता है। संस्कृत के अनेकानेक काव्यकलाकार काव्य के यशोलाभ रूप उद्देश्य का निर्देश करते रहे हैं। इस प्रकार की सूक्तियाँ :—

ते धन्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थितं यशः। यैर्निबद्धानि काव्यानि ये वा काव्येषु कीर्त्तिताः॥

जिनमें काव्य और यशःप्राप्ति में साध्य-साधनभाव का सम्बन्ध माना गया है, संस्कृत काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र मिला करती हैं।

आचार्य भामह ने जिस 'प्रीति' रूप प्रयोजन का अन्त में निर्देश किया है और इसीलिये ऐसा निर्देश किया है क्योंकि यही काव्य का अन्तिम वास्तविक प्रयोजन है वह वस्तुतः नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि के 'विनोद' अथवा 'विश्राम' का एक ऐसा नामान्तर है जिसका रहस्य अलङ्कारशास्त्र के विकास के साथ उत्तरोत्तर विकसित और प्रस्फुटित होता रहा है।

आचार्य भामह के बाद काव्य-प्रयोजन के विचारक आलङ्कारिकों में आचार्य वामन (८वीं शताब्दी) का नाम उल्लेखनीय है। वामन (अलङ्कारसूत्रवृत्ति १. १. ५) के अनुसार काव्य के दो प्रयोजन हैं–१ दृष्ट प्रयोजन और २ अदृष्ट प्रयोजन। दृष्ट प्रयोजन का तात्पर्य है 'प्रीति' और अदृष्ट प्रयोजन का तात्पर्य है 'कीर्त्ति'—

'काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्त्तिहेतुत्वात्।'

संभवतः चतुर्वर्ग-व्युत्पत्ति और कला-व्युत्पत्ति को काव्य के अतिरिक्त अन्य विद्याओं और उपविद्याओं का भी प्रयोजन मानकर आचार्य वामन ने इन्हें काव्य-प्रयोजन के रूप में नहीं

माना। वामन की दृष्टि में 'रीति' काव्य का सार-तत्त्व है और इस दृष्टि से कवि और काव्य-
रसिक काव्य से 'प्रीति' अथवा आनन्द अवश्य पा सकते हैं। जो कवि अथवा जो काव्य-रसिक
काव्य की रचना अथवा काव्य की भावना में जितना ही अधिक प्रीति-लाभ कर सके उतना ही
अधिक उसे कीर्ति-लाभ भी हो सकता है।

संस्कृत काव्यालोचना में 'रीति'-वाद के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने ध्वनि-वाद की प्रेरणा में
पर्याप्त सहायता पहुँचायी है। ध्वनि-वाद के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्धन (९ वीं शताब्दी) ने
'प्रीति' को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन स्वीकार किया है। किन्तु आचार्य वामन के अनुसार
'प्रीति' का जो अभिप्राय है वही आचार्य आनन्दवर्धन का 'प्रीति' का रहस्य नहीं। 'प्रीति' को
काव्य अथवा वस्तुतः कला का प्रयोजन तो अलङ्कारशास्त्र की उत्पत्ति के समय से ही माना जाता
आ रहा है और अलङ्कारशास्त्र भी वस्तुतः 'काव्य' और 'प्रीति' के पारस्परिक सम्बन्ध की ही
एक समीक्षा है। किन्तु आचार्य भामह अथवा आचार्य वामन की 'प्रीति'दृष्टि वही नहीं जो
आचार्य आनन्दवर्धन अथवा आचार्य अभिनवगुप्त की हो सकती है। जिस प्रकार अलङ्कारशास्त्र
में ध्वनि-तत्त्व-रहस्य 'स्फुरित-प्रसुप्तकल्प' रहा है जिसे आनन्दवर्धन की प्रतिभा ने सर्वप्रथम
जीवित-जागृत बनाया है उसी प्रकार 'प्रीति' रूप काव्य-प्रयोजन-रहस्य भी रेखाचित्र के रूप में
ही अङ्कित होता रहा है जो सर्वप्रथम आनन्दवर्धन के द्वारा पूर्णरूप से उन्मीलित हुआ है।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य-प्रयोजन क्या है? उनके अनुसार 'प्रीति' काव्य-
प्रयोजन तो है ही किन्तु यह 'प्रीति' काव्य-शरीर के सौन्दर्य-दर्शन से उत्पन्न 'प्रीति' नहीं जो
संभवतः अलङ्कारवादी आचार्यों की दृष्टि में रही होगी और न इसे काव्य के सुन्दर शरीर को ही
काव्य का सब कुछ मानने वाले रीतिवादी आचार्यों की ही 'प्रीति' में अन्तर्भूत किया जा सकता
है, यह 'प्रीति' तो वस्तुतः काव्यार्थतत्त्व के साक्षात्कार करने वाले सहृदयजन के हृदय की
स्वाभाविक आनन्दाभिव्यक्ति है :—

'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्' (ध्वन्यालोक १-१)

काव्य के परम प्रयोजन के इस दर्शन का विश्लेषण करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त (१० वीं
शताब्दी) का तभी तो यह कथन है :—

**'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन-
योग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम्—
योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः। शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥'**

और यह भी—

**'आनन्द इति–रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वं
दर्शयति।······तत्र कवेस्तावत् कीर्त्याऽपि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह—कीर्तिं स्वर्गफला-
माहुरित्यादि। श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—
धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ इति
तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेति
हासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष
इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।'**

(ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३९-४०)

अर्थात् काव्य का पार्यन्तिक प्रयोजन एक विशेष प्रकार की 'प्रीति' है। यह 'प्रीति' उस सहृदय का आनन्द है जो काव्य में तन्मय हुआ करता है, जिसकी हृदय-तन्त्री कवि की हृदय-तन्त्री के साथ झङ्कार किया करती है। चतुर्वर्ग-व्युत्पत्ति के लिये साधारण कवि भले ही काव्य-में प्रवृत्त हुआ करें अथवा साधारण काव्य-पाठक भले ही काव्य-पाठ किया करें किन्तु जो महाकवि हैं वे तो रसानुभूति के ही लिये काव्य रचा करते हैं और जो काव्य के सहृदय सामाजिक हैं वे भी रसास्वाद के ही लिये काव्यानुशीलन की ओर उन्मुख हुआ करते हैं :—

'काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्।'

काव्य से कीर्त्ति-लाभ का भी तात्पर्य वही नहीं जो इष्टापूर्तरूप धर्म-कर्म से कीर्त्ति-लाभ का हो सकता है। काव्य से कीर्त्ति उसी को मिल सकती है जो 'रससिद्ध' हो। कीर्त्ति का भी फल आनन्द ही है जिसे 'स्वर्ग' कहा गया है। इस लोक में काव्य ही वह वस्तु-तत्त्व है जो स्वर्ग का सुख-

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम्॥

एक अलौकिक स्वानुभवसंवेद्य आनन्द-उपस्थित कर सकता है।

ध्वनिवादी काव्याचार्यों ने काव्य के रहस्य के उन्मीलन के साथ ही साथ काव्य-प्रयोजन के प्रीतिरूप रहस्य का भी सर्वतोभद्र उन्मीलन किया। ध्वनि-रहस्य से प्रभावित आचार्यों ने अपने-अपने काव्यवाद तो अवश्य प्रवर्त्तित किये किन्तु 'प्रीति' का अभिप्राय वही लिया जिसे ध्वनिवादी आचार्यों ने सिद्ध किया। उदाहरण के लिये, वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक (१० वीं शताब्दी) के अनुसार भी काव्य के प्रयोजन में 'प्रीति' ही महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है जिसका अभिप्राय सहृदय-हृदय का आह्लाद है :—

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः। काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥'
(वक्रोक्तिजीवित १.४)

इसी प्रकार रस-तात्पर्यवादी काव्याचार्य भोजराज (१० वीं ११ वीं शताब्दी) के अनुसार भी 'कीर्त्ति' और 'प्रीति' ही काव्य के तात्त्विक प्रयोजन हैं—

'कविः···'कीर्त्ति प्रीतिं च विन्दति' (सरस्वतीकण्ठाभरण १.२)

और 'प्रीति' का अभिप्राय काव्यार्थतत्त्व की भावना से संभूत 'आनन्द' है जैसा कि 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के व्याख्याकार रत्नेश्वर (१४ वीं शताब्दी) का विश्लेषण है :—

'प्रीतिः सम्पूर्णकाव्यार्थस्वादसमुत्थ आनन्दः, काव्यार्थभावनादशायां कवेरपि सामाजिकत्वाङ्गीकारात्' (स० क०–रत्नदर्पण–१.२)

काव्य प्रयोजन-विचार की इस प्राचीन सम्पत्ति का मम्मट ने कैसा उपयोग किया है—इसे देखना है। मम्मट के अनुसार काव्य की ओर प्रवृत्ति इन उद्देश्य-विशेषों के कारण हुआ करती है—१ला-यश, २रा-अर्थ, ३रा-व्यवहारज्ञान, ४था-अनिष्टनिवारण, ५वां-सद्यःपरनिर्वृति और ६ठा-कान्तासंमित उपदेश :—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥' (काव्यप्रकाश १०२)

सम्भवतः मम्मट ही सर्वप्रथम आलङ्कारिक हैं जिन्होंने काव्य के 'प्रयोजन-षट्क' का निर्देश और निरूपण किया है। काव्य के इस 'प्रयोजन-षट्क' का निर्देश जिस भावना से किया गया है वह समन्वय की भावना है। यह समन्वय भी एक दृष्टि-विशेष से किया गया है जो कि ध्वनि-

वाद की दृष्टि है। जैसे ध्वनि-वाद ने काव्यालोचना के भिन्न भिन्न वादों का रस-वाद की दृष्टि से समन्वय स्थापित किया, वैसे ही मम्मट ने काव्य-प्रयोजन के भिन्न भिन्न मतों का अपने 'सद्यःपर निर्वृति'-वाद की दृष्टि से समन्वय सिद्ध किया।

मम्मट का 'सद्यःपरनिर्वृति'-रूप काव्य-प्रयोजन क्या है? मम्मट ने इसे स्वयं समझाया है—

'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं, प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्संमितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।'

जिससे यह स्पष्ट है कि 'सद्यःपरनिर्वृति' वह अलौकिक काव्य-संभूत आनन्द है जो काव्य का परम प्रयोजन है। यह रसास्वादरूप आनन्द अलौकिक इसलिये है कि इसका साधन काव्य भी एक अलौकिक वस्तु है। यह रस-यह आनन्द वेदादिशास्त्रों से संभव नहीं और न इसे पुराण और इतिहासादि में ही पाया जा सकता है। वेदादि विद्याओं और पुराणादि उपविद्याओं से चतुर्वर्ग-व्युत्पत्ति भले ही सिद्ध हो जो कि हुआ भी करती है किन्तु इस व्युत्पत्ति में रसानुभूति का स्वप्न नहीं देखा जा सकता। रसानुभूति तो केवल काव्य अथवा कला की ही एकमात्र देन है। अन्य समस्त लौकिक किंवा वैदिक कर्म-कलापों से जो भी प्रयोजन सिद्ध हो, उसमें विलम्ब का होना स्वाभाविक है किन्तु काव्यानुशीलन और आनन्दानुभव में न तो समय का ही कोई व्यवधान है और न स्थान का ही।

यहाँ यह निःसन्दिग्ध है कि मम्मट ने ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ही काव्य-प्रयोजन-रहस्य का दर्शन और विवेचन किया है। ध्वनिवाद की दृष्टि में काव्य का रस-रूप परम प्रयोजन अपने साथ एक आनुषङ्गिक प्रयोजन भी रखा करता है और वह प्रयोजन है—सरसोपदेश-रूप प्रयोजन। यह सरसोपदेशरूप प्रयोजन ऐसा प्रयोजन है जो काव्य को मानव-जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध करता है। काव्य में जो कुछ भी है वह अन्ततोगत्वा रसाभिव्यक्ति में भी समन्वित होता है और यह रसाभिव्यक्ति सहृदय सामाजिक की क्षणिक मनस्तुष्टि नहीं अपितु मानव-जीवन के आदर्शों की एक अलौकिक साधना है। काव्य के द्वारा जिन जीवनादर्शों की व्याख्या की जाया करती है उसके प्रति काव्य-सामाजिक का स्वाभाविक अनुराग रहा करता है। लौकिक अथवा वैदिक कर्म-क्षेत्र में कर्त्तव्य और राग परस्पर लड़ते-भिड़ते रह सकते हैं किन्तु काव्य-क्षेत्र में कर्त्तव्य और राग, अपने पारस्परिक भेद-भाव को भुलाये, एक दूसरे के सहायक रूप से रहा करते हैं। वेदादि शास्त्र और इतिहास-पुराणादि बुद्धि को प्रभावित कर कर्त्तव्य-भावना को जागृत किया करते हैं किन्तु काव्य हृदय को प्रभावित कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सरस विश्लेषण किया करता है। जहाँ वेद द्वारा उपदिष्ट कर्मभावना में आज्ञा की कठोरता अथवा पुराण द्वारा निर्दिष्ट कर्म-साधना में अनुज्ञा की आपेक्षिक कोमलता है वहाँ काव्य द्वारा अभिव्यक्त **'रामादिवद् वर्तितव्यम्, न रावणादिवत्'** की कर्त्तव्य-भावना में मानव-हृदय की स्वाभाविक अनुरक्ति को प्रेरणा है।

ध्वनि-वाद के अनुसार काव्य-प्रयोजन का यही वास्तविक रहस्य है। काव्य से रस-प्रतीति और रस-प्रतीति में जीवनादर्शों की ओर प्रगति—एक ही प्रयोजन के दृष्टि-भेद से विश्लेषण-

भेद हैं। जैसे काव्य, कला होने के नाते, रसानुभूति का एकमात्र साधन है वैसे ही, जीवन की अभिव्यक्ति होने के नाते, जीवनादर्शों की भी एकमात्र साधना है। यदि काव्य का उद्देश्य केवल रसास्वाद ही होता तब यह मानव-जीवन से असम्बद्ध भी रहा करता। किन्तु काव्य तो मानव के ज्ञान-विज्ञान का अमृत-निष्यन्द है, वास्तविक जीवन की सरस व्याख्या है और तब तो यह स्वाभाविक ही है कि इसकी आनन्दात्मक अनुभूतियाँ जीवन को सफल जीवन बनाने में एक अनूठापन रखा करें। काव्य का यही अनूठापन काव्य का 'कान्तासंमित उपदेश योग' है। यद्यपि मम्मट ने आचार्य अभिनवगुप्त के काव्य-विषयक 'जायासंमितत्वलक्षण विशेष' को ही 'कान्तासंमित उपदेश-योग' के रूप में स्थापित किया है किन्तु यह भी सिद्ध है कि 'जायासंमितत्वलक्षण विशेष' में जो बात अनभिव्यक्त है वह 'कान्तासंमित-उपदेशयोग' में स्पष्टतया अभिव्यक्त हो रही है। 'जाया' और 'कान्ता' एक ही नारीरूप की दो भावनायें हैं। नारी में 'जाया' की भावना में जो अनुराग संभव है उसमें फलभावना की भी चिन्ता छिपी है किन्तु नारी में 'कान्ता' की भावना एकमात्र हृदयानुरक्ति की ही अधिकाधिक पुष्टि और अभिव्यक्ति है जिसमें फल-चिन्तन की गन्ध नहीं। अनुरक्ति में फल की चिन्ता उसकी पूर्णता नहीं अपितु अपूर्णता का अभिप्राय रखती है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनि-वाद के रस-रूप काव्य-प्रयोजन-विचार को मम्मट ने सुरक्षित ही नहीं रखा है अपितु अपनी प्रतिभा से बहुत कुछ परिष्कृत भी किया है।

आनन्द और आनन्दानुषक्त कर्त्तव्य-भावना ही काव्य का पारमार्थिक प्रयोजन है—यह है वस्तुतः मम्मट के काव्य-प्रयोजन-विचार का सार-संक्षेप। किन्तु मम्मट ने काव्य के कुछ व्यावहारिक प्रयोजनों का भी निरूपण किया है जिनमें यशोलाभ सर्वप्रथम है। काव्य से यश की प्राप्ति के निदर्शन के रूप में महाकवि कालिदास का नाम लिया गया है। वस्तुतः काव्य से यशःप्राप्ति का रहस्य वही है जिसे भर्तृहरि ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है:—

'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः। नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥'

जिस से यही सिद्ध होता है कि यश रूप प्रयोजन का भी मूल रस की ही साधना है न कि अन्य कुछ। महाकवि की कीर्ति उसी का वरण करती है जो रससिद्ध हो और सहृदय-मूर्धन्य की भी कीर्त्ति उसी के पीछे चलती है जो रससिद्ध हो। काव्य से यशःप्राप्ति के प्रयोजन की निष्पत्ति कवि और सहृदय सामाजिक के पारस्परिक सम्बन्ध का संकेत करती है। किसी काव्य की अधिकाधिक व्यापक रस-चर्वणा ही उस काव्य की कीर्त्ति है और है उस काव्य-कलाकार की अमरता की निशानी, जैसा कि एक प्राचीन काव्य-रसिक का कहना है:—

'ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम्।
पुष्णाति कमलमम्भो लक्ष्म्या तु रविर्नियोजयति॥'

काव्य से अर्थलाभ भी संभव है और इसीलिये इसे भी काव्य-प्रयोजनों में स्थान दिया गया है। काव्य से अर्थलाभ की कहानी प्रत्येक भाषा के काव्य-साहित्य के इतिहास की एक रोचक कहानी है। काश्मीरिक महाकवि विल्हण की राजतरङ्गिणी में महाकवि मातृगुप्त का चरित चित्रित है जिसमें काव्य और धन-सम्पत्ति में साध्य-साधन-भाव स्पष्टतया प्रदर्शित किया हुआ है। अर्थ-प्राप्ति को काव्य के प्रयोजन-रूप में रखना कवियों के लिये एक ऐसी प्ररोचना है जिसे काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। मम्मट के सम-सामयिक काश्मीर में उक्ति-निपुण

कवियों को अर्थ-लाभ होता ही रहा है। अर्थ-लाभ भी उसी काव्य के प्रयोजन के रूप में संभवतः यहां स्वीकृत प्रतीत होता है जिसे चित्र-काव्य कहा गया है जिसमें राज-प्रशस्तियों की रचनायें प्रधान हैं।

व्यवहार-ज्ञान को भी काव्य-प्रयोजन मानना आवश्यक ही है क्योंकि इतिहास और लोकवृत्त के द्वारा होने वाले व्यवहार-ज्ञान में सामाजिकों की वह मनःप्रवणता नहीं हो सकती जो काव्य द्वारा होने वाले व्यवहार-ज्ञान में संभव है। इसका भी कारण काव्य की सरसता ही है। काव्य द्वारा संभव सरस व्यवहार-ज्ञान इतिहासादि द्वारा अथवा वैयक्तिक अनुभव द्वारा सुलभ नहीं। काव्य का व्यवहार-ज्ञान-रूप प्रयोजन पाश्चात्य काव्य-मनीषी भी मान चुके हैं। Ben Johnson (बेन जॉनसन) की इस सम्बन्ध में यह उक्ति है:—

'It (poetry) nourishes and instructs our youth; delights our age; adorns our prosperity; comforts our adversity; entertains us at home; keeps us company abroad; travels with us, watches, divides the time of our earnest and sports; shares in our country recesses and recreations; in so much as the wisest and the best learned have thought her the absolute mistress of manners, and nearest of kin to virtue.'

अर्थात् आचार-व्यवहार के क्षेत्र पर कविता का प्रभुत्व अक्षुण्ण है और जीवन के आदर्शों के साथ तो कविता का गहरा नाता है। क्या जवानी और क्या बुढ़ापा-दोनों के लिये कविता उपयोगी है। सुख में संतोष और दुःख में सान्त्वना कविता की ही देन है। कविता जीवन-मार्ग पर चलते हुए मानव का सदा साथ दिया करती है।

काश्मीर के कवि और आलोचक मानव की सर्वविध अनुभूतियों को काव्य में प्रतिफलित माना करते हैं। संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो काव्य के आनन्द का अभिव्यञ्जन-साधन न बन जाय। सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याकार रत्नेश्वर का इसीलिये यह कहना है:—

'नास्त्येव तत्काव्यं यत्र परम्परयाऽपि विभावादिपर्यवसानं न भवतीति काश्मीरिकाः।'

(सरस्वतीकण्ठाभरण १, २)

जिसकी दृष्टि से यह मानना युक्तियुक्त ही है कि कवि द्वारा वर्णित लोक-व्यवहार विभावादि वर्ग में अन्तर्भूत होकर रसानुभूति की प्रेरणा बना करता है और इस प्रकार काव्य से व्यवहार-ज्ञान का अभिप्राय है रसमग्न हृदय से लोकजीवन का साक्षात्कार। पाश्चात्य काव्य-मीमांसक Mathew Arnold (मैथ्यू ऑर्नल्ड) की इस उक्ति में भी कविता की इसी उपयोगिता की अभिव्यक्ति है:—

'More and more mankind will discover that we have to turn to poetry to interpret life for us, to console us, to sustain us, without poetry our science will appear incomplete and most of what now passes with us for religion and philosophy will be replaced by poetry.

मम्मट के अनुसार काव्य का एक और भी व्यावहारिक किन्तु दृष्टादृष्टरूप प्रयोजन है और वह है 'शिवेतरक्षति'-अमङ्गल-निवारण। इस अमङ्गल-निवारण रूप काव्य—प्रयोजन के लिये, सूर्यशतक की रचना से, महाकवि मयूर की दुःखशान्ति का दृष्टान्त दिया गया है। यह दृष्टान्त

एक संकेत मात्र है। 'शिवेतरक्षति' का सम्बन्ध स्तोत्र-काव्यों से है और संस्कृत काव्य-साहित्य में स्तोत्र-रचनाओं का एक अपना ही स्थान है। वैदिक वाङ्मय की स्तोत्र-परम्परा संस्कृत-वाङ्मय में सुरक्षित चली आ रही है। अमङ्गल-निवारण को इस दृष्टि से काव्य का एक प्रयोजन मानना संस्कृत काव्य-साहित्य के एक बृहद्भाग के साथ न्याय करना है।

मम्मट का किया यह काव्य-प्रयोजन-विवेचन संस्कृत के काव्य-मात्र से सम्बन्ध रखता है। चित्रकाव्य का भी कुछ प्रयोजन है और उसका प्रयोजन वही नहीं जो रस-ध्वनि-काव्य का हो सकता है। मम्मट-निर्दिष्ट 'षट्प्रयोजनी' में सभी प्रकार के काव्यकारों के प्रयोजन निर्दिष्ट हैं जिसका विवेक रसिकता और सहृदयता की एक पहचान है। काव्य से अधिक से अधिक स्वभावतः संबद्ध काव्य का पारमार्थिक प्रयोजन यदि रसास्वाद है जिसमें सरसोपदेश समन्वित है तो काव्य के व्यावहारिक प्रयोजन भी हैं जिन्हें अर्थ-लाभ, व्यवहार-ज्ञान आदि के रूप में स्पष्ट देखा जा सकता है।

मम्मट की यह काव्य-प्रयोजन-समीक्षा बाद के आलङ्कारिकों के मनन-चिन्तन का विषय बनी है। कुछ ने एक आध प्रयोजन का खण्डन भी किया है और कुछ ने दूसरे शब्दों में इन्हीं प्रयोजनों का मण्डन भी किया है। खण्डन-मण्डन की क्रिया तो चलती ही रहती है किन्तु इतना निश्चित है कि मम्मट की समन्वयात्मक दृष्टि का खण्डन नहीं हुआ।

२. मम्मट और काव्य-हेतु-विवेक

आधुनिक काव्यालोचना में किसी कविता का विश्लेषण उसके रचयिता के व्यक्तित्व का विश्लेषण माना जाता है। संस्कृत की प्राचीन काव्यालोचना भी, जिसे हम 'अलङ्कारशास्त्र' के रूप में देखते हैं, किसी काव्य का रहस्य उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व में देखती रही है। किन्तु इन दोनों में, इस सम्बन्ध में, एक महान् भेद है और वह यह है कि जब कि आधुनिक काव्यालोचना कवि के बहिर्मुख व्यक्तित्व को देखना चाहती है, तब संस्कृत का अलङ्कारशास्त्र कवि के अन्तर्मुख व्यक्तित्व का अनुसन्धान करना चाहता है। अलङ्कारशास्त्र में जिसे 'काव्य-हेतु-विवेक' कहा करते हैं वह कवि के काव्यमय व्यक्तित्व का एक विश्लेषण है। अलङ्कारशास्त्र कवि के सामाजिक व्यक्तित्व में कविता की उत्पत्ति का रहस्य नहीं ढूंढ़ता, अपि तु कवि के आत्मिक अन्तस्तत्त्व में ही कविता का उद्भव खोजा करता है।

प्राचीन आलङ्कारिकों की यही मर्यादा रही है कि वे काव्य को इस सृष्टि का रसमय प्रतिरूप मानते रहे हैं और कवि को रसमय काव्य जगत् का स्रष्टा। जैसे स्रष्टा और सृष्टि में शक्तिमान् और शक्ति-प्रचय की दृष्टि से अभेद ही रहा करता है वैसे ही कवि और काव्य में भी। यह तो वैदिक ऋषियों की ही तत्त्व-दृष्टि रही है कि वे इस सृष्टि को ही 'काव्य' और इसके रचयिता को 'कवि' मानते रहे हैं। वैदिक युग की यही मान्यता काव्य-साहित्य के युग में भी अवतीर्ण हुई है और इसके अनुसार 'काव्य' को 'सृष्टि' और कवि को 'स्रष्टा' माना गया है। भारतीय दर्शन में सृष्टि और स्रष्टा के बीच कार्य-कारणभाव का जो भी सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम विवेक होता आया है। वही अलङ्कारशास्त्र में काव्य और कवि के पारस्परिक सम्बन्ध में भी प्रतिफलित होता रहा है।

सब से प्राचीन आलङ्कारिक भामह (६ ठी शताब्दी) ने कविता के उद्भव में कवि के व्यक्तित्व का जो रहस्य देखा है वह यह है :—

'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः। शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥' (काव्यालङ्कार १.५)

अर्थात् जो लोग ऐसे हो चुके हैं, जिनकी रचना 'काव्य' है, वे विरले ही लोग हैं, क्योंकि काव्य एक ऐसी वस्तु है जो सर्वदा नहीं बना करती, अपि तु कदाचित् ही प्रादुर्भूत हुआ करती है और सभी शब्दार्थ-रचनाकार काव्य-रचना नहीं किया करते अपि तु वही काव्य-रचना कर पाता है जिस में 'प्रतिभा' हुआ करती है। जिसे वस्तुतः सर्वतोभावेन 'काव्य' कहते हैं वह तो एक विशेष प्रकार की कवि-शक्ति—'कवि-प्रतिभा' का ही उन्मेष है। यह कवि-प्रतिभा सर्वत्र नहीं पायी जाती किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि लोग काव्य-क्रिया के प्रति निराश हो जाँय। काव्य-क्रिया के प्रति तो सब को प्रयत्नशील होना चाहिये और इस प्रयत्नशीलता का अभिप्राय है—शब्द-स्वरूप और अर्थ-स्वरूप का पूर्ण परिचय, शब्दार्थतत्त्व-वैज्ञानिकों का सान्निध्य-लाभ और कवि-कृतियों का अवलोकन किंवा अनुसन्धान।

भामह के इस काव्य-हेतु-विवेक में भी 'काव्य' की उत्पत्ति 'प्रतिभा' में ही छिपी-लिपटी दिखायी देती है। यही बात आचार्य दण्डी के सम्बन्ध में भी प्रतीत होती है क्योंकि उनका भी यही कथन है :—

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्। अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥'
(काव्यादर्श १.१०३)

जिसका अभिप्राय यह है कि 'काव्य' की श्री-समृद्धि कवि की स्वाभाविक कवि-प्रतिभा पर ही एकमात्र निर्भर है और इसके साथ-साथ निर्भर है कवि की व्युत्पत्ति पर और उसके अमन्द अभियोग अथवा सतत काव्य-क्रिया-विषयक अभ्यास पर।

भामह के अनुसार तो 'काव्य' और 'कविप्रतिभा' में एक प्रकार का कार्यकारणभाव स्पष्ट प्रतीत होता है किन्तु दण्डी के अनुसार काव्य के हेतु-तत्त्वों में 'प्रतिभा' के साथ-साथ 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' का भी स्थान है। यद्यपि भामह ने भी 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' का निर्देश किया है किन्तु भामह का यह निर्देश एक और अभिप्राय रखता-सा लग रहा है और वह अभिप्राय है सम-सामयिक रचनाकारों में काव्य-रचना की दृष्टि से एक विशेष प्रकार की व्युत्पत्ति के आधान और काव्य-क्रिया के प्रति उद्योगशीलता का अभिप्राय। संभवतः भामह की दृष्टि में प्राचीन महाकवियों की रचनायें ऐसी अलौकिक वस्तुयें हैं जिन्हें प्रतिभा-प्रसूत भले ही कहा जाय, व्युत्पत्ति-सिद्ध और अभ्यास-निष्पन्न तो कहा ही नहीं जा सकता। आचार्य दण्डी की बात दूसरी है। उनके अनुसार प्राचीन महाकवियों की कृतियों में भी व्युत्पत्ति और अभ्यास की कारणता अक्षुण्ण रहनी चाहिये।

काव्य-सृष्टि के प्रति भामह की रहस्य-भावना और दण्डी की विश्लेषण-दृष्टि का अपना-अपना अर्थ है। भामह पर यदि भारतीय दर्शन की आदर्श-भावना का प्रभाव है तो दण्डी पर यथार्थ-भावना का। आलङ्कारिकों का एक प्रबल दल यदि भामह का पक्षपाती है तो दूसरा दण्डी का। जब 'प्रतिभा' काव्य की जननी है तब काव्य का रहस्य स्व-संवेदन-सिद्ध भले ही हो, सर्वथा विश्लेषण-गम्य नहीं हो सकता। व्युत्पत्ति और अभ्यास तो 'प्रतिभा' के प्रवाह में बहा करते हैं। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की कृतियाँ, चाहे उनका कितना भी व्युत्पत्ति-सम्बन्धी अथवा अभ्यास-सम्बन्धी अनुसन्धान किया जाय, अन्ततोगत्वा विश्लेषण से बाहर निकल जाती हैं और

अपनी सुन्दरता में सदा एकरस विराजती रहती हैं। इन कवियों की रचनाओं को एक दृष्टि से साक्षात् कविता-सरस्वती का अवतार माना जाता है और दूसरी दृष्टि से कवि-प्रतिभा का उन्मेष अथवा स्वच्छन्द प्रकाश। भामह की **'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः'**—यह मान्यता ही ध्वनि-तत्त्वदर्शी आनन्दवर्द्धनाचार्य की इस दृष्टि अर्थात् :—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ (ध्वन्यालोक १.६)

में झलक रही है। जैसे ध्वनि-दर्शी आचार्य की दृष्टि में व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा कवि-प्रतिभा का प्रसार नहीं हुआ करता अपि तु यदि कवि-प्रतिभा है—और कवि-प्रतिभा क्या है? कविप्रतिभा है एक अलोक सामान्य, एक असाधारण, प्रतिभाविशेष—तो 'काव्य' स्वयं अभिव्यक्त हुआ करता है वैसे ही सर्वप्रथम अलङ्कार-वादी आचार्य (भामह) की दृष्टि में भी, व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर, काव्य-रचना में, सहृदय-मात्र की प्रवृत्ति भले ही किसी हद तक सार्थक हुआ करे किन्तु जिसे वस्तुतः 'काव्य' कहते हैं वह तो प्रतिभा-संभूत ही पदार्थ है। यद्यपि आचार्य भामह ने यह स्पष्ट नहीं किया कि 'प्रतिभा' और 'काव्य' तथा 'काव्य' और 'व्युत्पत्ति' किंवा 'अभ्यास' में क्या तारतम्य है किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि उन्होंने 'प्रतिभा-रहस्य' में ही 'काव्य' का रहस्य देखा-दिखाया। सम्भवतः भामह की यही भावना ध्वनिकार के हृदय में 'काव्य-विशेष' और 'प्रतिभा-विशेष' में एक प्रकार के कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध की धारणा बन कर अवतरित होती है।

आचार्य दण्डी का काव्य-हेतु-वाद एक प्रकार से भामह के काव्य-हेतु-वाद का प्रतिपक्ष है। आचार्य दण्डी के अनुसार 'नैसर्गिकी प्रतिभा' के साथ-साथ 'निर्मल श्रुत' (बहुज्ञता—व्युत्पत्ति) और 'अनन्य अभियोग' (सतत अभ्यास) की संभूयकारणता इस बात का प्रमाण है कि महाकवि भी केवल प्रतिभा-प्रेरित होकर ही काव्य नहीं रचा करते होंगे किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर ही उनकी रचना 'काव्य' रूप में निखरा करती है।

दोनों आचार्यों के पक्ष अपनी-अपनी दृष्टि से प्रबल हैं भामह के पक्ष में यदि काव्य कवि-हृदय के प्रतिभा-प्रकाशन के रूप में उत्पन्न होता है तो दण्डी के पक्ष में वह प्रतिभा-सम्पन्न कवि की व्युत्पन्नता और उसके रचनाभिनिवेश के बल पर बना करता है। दोनों का मत दोनों की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं पर आश्रित है। भामह की दृष्टि में कवि-प्रतिभा ही काव्य को शब्दार्थ-साहित्य-रूप बना सकती है जैसा कि उसे होना चाहिये किन्तु 'इष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावली' रूप काव्य बिना व्युत्पन्नता और अभ्यास के साहाय्य के नहीं बन सकता।

बाद के आलङ्कारिक या तो भामह की परम्परा का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं या दण्डी की परम्परा का। भामह की काव्य-मर्यादा यदि ध्वनिवाद अथवा वक्रोक्ति-वाद के अनुकूल है तो दण्डी की काव्य-मर्यादा अलङ्कार-वाद अथवा रीति-वाद के अनुकूल है। दण्डी की काव्य-मर्यादा एक ओर तो आचार्य वामन (८ वीं-शताब्दी) ने सुरक्षित रखी है और दूसरी ओर आचार्य रुद्रट (८ वीं ९ वीं शताब्दी) ने। आचार्य वामन ने काव्य के हेतु-तत्त्व का इस प्रकार निरूपण किया है :—

'लोको विद्या प्रकीर्णञ्चेति काव्याङ्गानि'। लोकवृत्तं लोकः।
शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः''''''

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्।'
(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १.३.१-११)

जिसका अभिप्राय यह है कि लोकानुभव किं वा लोकनिरीक्षण, व्युत्पत्ति और लक्ष्यज्ञत्व (काव्यानुशीलन)-काव्यरचनाभ्यास-काव्यज्ञसेवा-अवेक्षण (पद-योजना-कौशल)-प्रतिभान और अवधान की साधन-सामग्री यदि हो तो काव्य की सिद्धि सम्भव है। यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रतिभान अथवा प्रतिभा को कवित्व का बीज (**कवित्वबीजं प्रतिभानम्। कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्। जन्मान्तरगतसंस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्**—काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १.३-१६) मान कर भी काव्य के उद्भव में कारण-चक्र की कल्पना की हुई है। यही बात आचार्य रुद्रट के मत में भी है क्योंकि उनके अनुसार शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति और अभ्यास का त्रैत ही काव्य-क्रिया का हेतुतत्त्व है—

'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः।' (रुद्रट-काव्यालङ्कार २.१४)

ध्वनि-वाद के आचार्य तो भामह की **'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः'** की दिव्य-धारणा से मुग्ध हैं। आचार्य आनन्दवर्द्धन की यह उक्ति :—

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झगित्यवभासते॥'
(ध्वन्यालोक पृष्ठ ३१६ चौखम्बा)

एकमात्र इसी बात का संकेत करती है कि काव्य का रहस्य कवि की प्रतिभा का रहस्य है न कि कवि की व्युत्पन्नता और अभ्यासशीलता का। आचार्य अभिनवगुप्त के काव्य विद्या-गुरु श्री भट्टतौत ने इसीलिये कवि को ऋषि कहा है क्योंकि उसमें 'प्रतिभा' रहा करती है जिसका उन्मेष 'वर्णना' में हुआ करता है :—

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः॥'
(काव्यकौतुक-माणिक्यचन्द्र कृत काव्यप्रकाशसङ्केत-उद्धरण)

'प्रतिभा' के द्वारा 'वर्णना' का अनुप्राणन काव्य का उद्भव-हेतु है—यह भट्टतौत-मत वस्तुतः इस बात की ओर लक्ष्य करता है कि व्युत्पत्ति, और अभ्यास प्रतिभा के होने पर ही काव्य-क्रिया में सहायक हो सकते हैं अन्यथा नहीं। आचार्य अभिनवगुप्त का इसीलिये यह स्पष्ट कथन है :—

'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा; तस्या विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्।' (ध्वन्यालोकलोचन १.६)

जिसका यही तात्पर्य है कि 'काव्य' की जननी 'प्रतिभा' है अलङ्कार अथवा रीति अथवा वक्रोक्ति आदि का जन्म भले ही व्युत्पत्ति और अभ्यासशीलता से हुआ करे।

आचार्य मम्मट का काव्य-हेतु-विवेक ध्वनिवाद की इसी काव्य-मर्यादा का अनुसरण करता है। किन्तु आचार्य मम्मट ने प्राचीन अलंकारवादी आलङ्कारिकों की काव्य-मर्यादा का भी अपने मत में सामञ्जस्य स्थापित किया है। आचार्य मम्मट के अनुसार 'काव्य-हेतु' यह है :—

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥
(काव्यप्रकाश १.३)

जिससे यह स्पष्ट है कि काव्य के उद्भव में न तो केवल 'शक्ति' का हाथ है, न केवल 'निपुणता' का और न केवल 'अभ्यास' का, अपि तु शक्ति-निपुणता-अभ्यास के अङ्गाङ्गिभावरूप से अथवा उपकार्योपकारकभाव रूप से परस्पर सामञ्जस्य का।

आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम 'शक्ति' को काव्य-हेतु-तत्त्व में स्थान दिया है। यह 'शक्ति' क्या है? ध्वनिवादी काव्याचार्य 'प्रतिभा' और 'शक्ति' को एकतत्त्व माना करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त-दोनों ने 'प्रतिभा' और 'शक्ति' में एकरूपता का दर्शन किया है। आनन्दवर्धनाचार्य की **'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः'** आदि उक्ति की व्याख्या में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'शक्ति' को स्पष्टतया 'प्रतिभा'–स्वरूप स्वीकार किया है—**'शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्**–(ध्वन्यालोक लोचन, पृ. ३१७)'। आचार्य मम्मट के द्वारा 'प्रतिभा' के बदले 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है और इसका भी एक कारण है। मम्मट के पूर्ववर्त्ती ध्वनि-समर्थक आलङ्कारिक जैसे कि कविराज राजशेखर आदि 'शक्ति' और 'प्रतिभा' में परस्पर तत्त्व-भेद मानने लगे थे। कविराज राजशेखर की यह उक्ति :—

'सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते।'

(काव्यमीमांसा ४)

स्पष्टतया 'शक्ति' और 'प्रतिभा' में भिन्नरूपता प्रमाणित करती प्रतीत होती है। मम्मट की दृष्टि से 'शक्ति' और 'प्रतिभा' का यह विवेक एक निरर्थक मानसिक व्यायाम सा लगा। इस झगड़े से छुटकारा पाने के लिये मम्मट ने 'शक्ति' को ही काव्य-हेतु-तत्त्व के रूप में स्वीकार किया और 'प्रतिभा' का-समस्त व्यापार 'शक्ति' का ही स्वातन्त्र्य माना।

मम्मट की धारणा में 'शक्ति' कवित्व का बीजभूत एक संस्कारविशेष है जिसके विना काव्य-रचना नहीं हो सकती और यदि हठात् कोई काव्य रच भी ले तो वह काव्य नहीं अपि तु काव्याभास ही रह जायगा—**'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः। यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।'** मम्मट की यह 'शक्ति'–परिभाषा आपाततः तो आचार्य वामन की इस 'शक्ति'-परिभाषा अर्थात्—**'कवित्वबीजं प्रतिभानम्······'** (पृ. ११ देखें) का अनुकरण करती प्रतीत होती है किन्तु-बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। अलङ्कार-वादी अथवा रीति-वादी आलङ्कारिक 'शक्ति' को कवित्व-बीज तो अवश्य मानते हैं किन्तु इस 'कवित्व-बीज' के रहस्य में 'काव्य' की उत्पत्ति का जो रहस्य देखते हैं वह 'समाहित मन में अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) का अनेकधा स्फुरण' मात्र ही है जैसा कि आचार्य रुद्रट ने स्पष्ट कहा है:—

'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥' (काव्यालङ्कार १.१५)

यह तो ध्वनि-वादी आचार्यों की तत्त्व-दृष्टि है जो कवित्व-बीज-रूप शक्ति अथवा 'प्रतिभा' को 'समाहित कवि-हृदय में शब्द और अर्थ का स्फुरण-स्पन्दन' नहीं अपि तु 'वर्णनीय वस्तु-विषयक नवनवोल्लेख' माना करती है। आचार्य अभिनवगुप्त का तभी तो यह कथन है :—

'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा······' (पृ. ११ देखें) जिसका वास्तविक रहस्य उनकी इस स्मरणीयसूक्ति में झलक रहा है :—

'अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत् सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयताते॥'

(ध्वन्यालोक लोचन-आरम्भ मङ्गल)

जिसका तात्पर्य यही है कि कवित्वबीजरूप 'शक्ति' अथवा प्रतिभा शब्द और अर्थ का समाहित चित्त से दर्शन तो बाद में है, पहले तो वह साक्षात् 'सरस्वती-तत्त्व' है, जिसे 'कवि-सहृदय-तत्त्व' कह सकते हैं, जिसमें वर्णनीय-वस्तु-विषयक नवनवोन्मेष के साथ साथ रसात्मक सृष्टि करने का सामर्थ्य सञ्चित रहा करता है और जिसमें 'कारयित्री' और 'भावयित्री' का व्यावहारिक भेद अन्ततोगत्वा एक पारमार्थिक अभेद में समा जाया करता है।

अलङ्कार-वादी और रीति-वादी काव्याचार्यों की 'प्रतिभा' अन्ततोगत्वा एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व है किन्तु ध्वनि-वादी आचार्यों की 'प्रतिभा' में आध्यात्मिक तत्त्व-रहस्य झलक रहा है। ध्वनि-दार्शनिक आचार्य कवित्वबीजरूप 'प्रतिभा' के विश्लेषण में उस गहराई तक पहुँच जाते हैं जहां 'कवि' और 'प्रजापति परमेष्ठी' एक रूप दिखाई दिया करते हैं और कवि और उसकी शक्ति उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार प्रजापति और उसकी शक्ति एकरस है—**शक्तिशक्तिमतोरभेदः।** प्रजापति की 'शक्ति' क्या है? प्रजापति की 'शक्ति' है—परासंवित्। 'परासंवित्' अथवा 'चिति शक्ति' और प्रजापति वस्तुतः एक अद्वय तत्त्व हैं। विश्लेषणात्मक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि 'परा संवित्' परमात्मतत्त्व रूप प्रजापति के आत्म-प्रकाशन का सामर्थ्य है। इसी को 'स्वरूप-ज्योतिरेवान्तः' कहा गया है। यही 'ईश्वरता', 'कर्तृता', 'स्वतन्त्रता', 'चित्स्वरूपता', 'अहन्ता' और एक शब्द में 'प्रकाश' की 'आत्मविश्रान्ति' है।

ध्वनि-वाद-सम्मत 'प्रतिभा'-रहस्य में इस प्रकार जहां 'कवि-तत्त्व' अथवा 'कवि-सहृदयाख्य' सरस्वतीतत्त्व का शैवागम-सिद्धि आध्यात्मिक रहस्य छिपा है वहाँ साथ ही साथ इसमें शब्द-दर्शन और मनोदर्शन की वैज्ञानिक-दार्शनिक प्रतिभा-सम्बन्धी मान्यतायें भी अनुस्यूत हैं। शब्द-दर्शन के अनुसार 'प्रतिभा' को 'भगवती विद्या विशुद्धप्रज्ञा' कहा गया है और 'पश्यन्ती' रूप वाणी-तत्त्व से अभिन्न माना गया है। महाभाष्य के व्याख्या-विशारद श्री पुण्यराज ने स्पष्ट कहा है—**'पश्यन्त्याख्या प्रतिभा'**। यह 'प्रतिभा' ही आत्म-चन्द्र की अमृत कला है। महाकवि भवभूति की **'वन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।'** आदि की भावना वस्तुतः 'प्रतिभा'-तत्त्व की ही भावना है जो कि 'वाणी-तत्त्व'-'पश्यन्ती' से एकरूप-एकरस है। भारतीय मनोदर्शन के अनुसार 'प्रतिभा' एक विशेष प्रकार की मनःशक्ति है जिसे 'दिव्यचक्षु' 'दिव्यदृष्टि' 'आर्षज्ञान' आदि आदि नाम-रूपों में पहचाना जाता है और जो कि देश-कालादि की सीमाओं से उत्तीर्ण एक लोकोत्तर अनुभूति है। ध्वनि-वादी काव्याचार्य 'प्रतिभा' के पारमार्थिक स्वरूप में तो 'विमर्श-तत्त्व' का ही स्वरूप-चिन्तन करते हैं किन्तु शब्द-दर्शन और मनोदर्शन की 'पश्यन्ती' और 'दिव्य-दृष्टि' की मान्यता भी उन्हें सर्वथा विरुद्ध नहीं प्रतीत होती।

'प्रतिभा' कवि की दिव्य-दृष्टि है और साथ ही साथ है कवि-भारती की वह आत्माभिव्यञ्जन शक्ति जो इस नीरस पार्थिव जगत् को सरस काव्य-जगत् के रूप में प्रकट किया करती है।

आचार्य मम्मट ने इसी 'प्रतिभा' की स्तुति में कहा है :—

'नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥' (काव्यप्रकाश-मङ्गल श्लोक)

सूक्ष्मदृष्टि से 'प्रतिभा' का रहस्य तो यह रहा, जिसे ध्वनिवादी काव्याचार्यों की परम्परा का अनुसरण करते आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम काव्य-हेतु-तत्त्व माना है। 'प्रतिभा' के व्यापार के

सम्बन्ध में मम्मट ने जो यह सूक्ष्म संकेत किया है कि 'प्रतिभा' के होने से ही 'काव्य' का निर्माण संभव है (**'यां विना काव्यं न प्रसरेत्'** काव्यप्रकाश १.२ वृत्ति) उसमें एक ओर तो आचार्य आनन्दवर्द्धन की :—

'भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥ (ध्वन्यालोक पृष्ठ ४९८)

इस प्रतिभा-भावना की छाप पड़ी है और दूसरी ओर पड़ी है कविराज राजशेखर की :—

या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव। प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।'

(काव्यमीमांसा—अध्याय ४)

इस प्रतिभा-मीमांसा की छाप। मम्मट की दृष्टि में काव्य है 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि-कर्म' और ऐसा यह तभी हो सकता है जब कि इसका कर्त्ता 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण' हो। यह 'लोकोत्तर-वर्णना' क्या है ? यह है कवि-प्रतिभा अथवा कवित्व-शक्ति। इसी का स्वरूप-चिन्तन अभिनव-गुप्तपादाचार्य के काव्यविद्यागुरु आचार्य भट्टतौत की इस सूक्ति में हुआ है :—

'नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात्। विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः। दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः ॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः। नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥'

(हेमचन्द्र : काव्यानुशासन-उद्धरण)

जिसका अभिप्राय यह है कि जो 'कवि' है वह 'ऋषि' है। 'कवि' को 'ऋषि' इसीलिये कहा जाता है कि वह 'द्रष्टा' हुआ करता है। कवि के 'द्रष्टा' होने का जो तात्पर्य है वह है उसमें एक ऐसी 'प्रख्या', ऐसी 'प्रतिभा', ऐसी 'प्रज्ञा' के होने का जो समस्त जीवन-तत्त्व का साक्षात्कार कर सकती है। ऋषि तो तत्त्व-दर्शन की शक्ति के कारण ऋषि है और कवि ऋषि होकर भी इसलिये कवि है क्यों कि उसकी 'प्रख्या' अथवा प्रतिभा' नवनवोन्मेषसुन्दर सरस वस्तु-निर्माण में अभिव्यक्त हुआ करती है।

ध्वनि-वादी आचार्यों के 'प्रतिभा'-दर्शन में और मम्मट ध्वनि-वाद के परमाचार्यों में से हैं—प्रतिभा-सम्बन्धी वे सभी बातें अन्तर्भूत हैं जिन्हें आधुनिक काव्य-तत्त्व-मीमांसक निरूपित किया करते हैं। 'प्रतिभा' एक 'उन्मेष' और 'उल्लेख' भी है तथा साथ ही साथ 'दर्शन' और 'वर्णन' भी है। काव्य में रस-ध्वनि-तत्त्व के द्रष्टा आचार्यों की 'प्रतिभा'-सम्बन्धी धारणा अपने आप में इतनी पूर्ण है कि पाश्चात्य काव्यालोचकों की 'कवि-कल्पना'-(Poetic Imagination) सम्बन्धी सभी विश्लेषण-दृष्टियाँ इसमें समा जाती हैं और तब भी इसके लिये यही कहा जा सकता है कि यह इन सब कल्पनाओं से परे किन्तु इन सब कल्पनाओं-का अक्षयस्रोत है। आधुनिक काव्याचार्यों जैसे कि आर. ए. रिचर्ड्स आदि ने जहाँ काव्यात्मक कल्पना के 'रूप-षट्क' का विश्लेषण कर इसे परिच्छिन्न मान लिया है वहाँ प्राचीन ध्वनिवादी आचार्य इसकी अनन्तरूपता का चिन्तन और उपासन करते हैं :—

'वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्। इष्यते प्रतिभाऽर्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम् ॥'

(ध्वन्यालोक, उद्योत ४)

यह तो हुआ काव्य हेतु-तत्त्व के मूलभूत प्रतिभा-तत्त्व का विचार। इस प्रतिभा-तत्त्व का

ही स्पन्दभूत वह काव्य-हेतु-तत्त्व है जिसे आचार्य मम्मट ने 'व्युत्पत्ति' कहा है। अलङ्कारवादी किंवा रीतिवादी आचार्य भी शक्ति के बाद व्युत्पत्ति को काव्यकरण-कारण मानते रहे हैं किन्तु उनकी दृष्टि में 'व्युत्पत्ति' प्रतिभा को चमकाने वाली एक वस्तु मानी गयी है। रीतिवादी आचार्य वामन (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १. ३. ३. १०) ने 'विद्या' जो कि 'व्युत्पत्ति' का ही नामान्तर है, काव्याङ्ग मानते हुये स्पष्ट कहा है :—

'शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः ।'
'शब्दस्मृत्यादीनां तत्पूर्वकत्वं पूर्वं काव्यबन्धेष्वपेक्षणीयत्वात् ।'

'शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः ।' **'कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् ॥'**
'अभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः ।' **'कामशास्त्रतः कामोपचारस्य ।'**
'छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः ।' **'दण्डनीतेर्नयापनययोः ।'**

जिसका अभिप्राय यही है कि कवियों को काव्य-रचना में प्रवृत्त होने के पहले स्थावर-जंगमात्मक लोक के व्यवहार-वेदन के साथ-साथ समस्त काव्योपयोगी विद्याओं के परिज्ञान की आवश्यकता है क्योंकि विना इससे काव्य-निर्माण दुष्कर ही नहीं अपि तु असंभव भी है। 'प्रतिभा' तो काव्य के 'प्रकीर्ण' रूप अङ्गों में एक अङ्ग है। लोक किंवा शब्दादि-विषयक व्युत्पत्ति होने के साथ-साथ यदि प्रतिभान (प्रतिभा), अवधान आदि भी हों तो काव्य-रचना होती चली जायगी। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'लोकवेदन' और 'विद्यापरिज्ञान' प्रतिभा से स्वतन्त्र सत्ता रखते हुये प्रतिभा के उपकारक बताये गये हैं। यही बात अलङ्कारवादी आचार्य रुद्रट की व्युत्पत्ति-सम्बन्धी मान्यता में दिखायी देती है। रुद्रट का अभिमत यहाँ यह है :—

'छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥ (काव्यालङ्कार १. १८)

रुद्रट ने वामन के 'लोकवृत्तवेदन', 'विद्यापरिज्ञान' किंवा लक्ष्यज्ञान—वृद्धसेवन-अवेक्षण-अवधान आदि को 'व्युत्पत्ति' में समन्वित कर इतना तो अवश्य किया हैं कि काव्य-कारणता में 'शक्ति' और 'व्युत्पत्ति' की प्रतिष्ठा कर दी है किन्तु यहाँ शक्ति और व्युत्पत्ति में सामञ्जस्य की स्थापना नहीं अपि तु स्पर्द्धा की भावना प्रतीत हो रही है। शक्ति और व्युपत्ति में सामञ्जस्य तो ध्वनिवाद की दृष्टि ने ही देखा है क्योंकि तभी तो आचार्य अभिनवगुप्त का यह कथन है :—

'शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम् ।
व्युत्पत्तिस्तदुपयोगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् ॥'

(ध्वन्यालोकलोचन-३य उद्योत)

जिससे यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि वह 'व्युत्पत्ति' काव्य-कारण नहीं जिसमें 'प्रतिभा' की अभिव्यञ्जना न होती हो अथवा जो 'प्रतिभा' के परिस्फुरण का साधन न बन सके।

प्राचीन आलङ्कारिकों की 'व्युत्पत्ति' विषयक धारणा 'बहुज्ञता' से सम्बद्ध थी, किन्तु ध्वनि-वादी आलङ्कारिकों ने 'व्युत्पत्ति' का रहस्य 'प्रतिभा' के उन्मेष का परिणाम माना। आनन्दवर्धनाचार्य का यह निर्णय कि :—

'न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ।' (ध्वन्यालोक ४. ६)

अर्थात् 'यदि प्रतिभा हो तो काव्य के अर्थ-तत्त्वों का अन्त नहीं' इसी बात का निर्णय है कि

कवि की प्रतिभा ही काव्यरूप में अवतीर्ण होकर उसकी व्युत्पत्ति के रूप में सहस्रधा प्रतिफलित पायी जाती है। नाट्यशास्त्र की यह मर्यादा कि :—

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते॥' (२१. १२२)

अर्थात् 'कोई भी ज्ञान, कोई भी शिल्प, कोई भी विद्या, कोई भी कला, कोई भी कर्म और कोई भी योग ऐसा नहीं. जो नाटक में न समा जाय' इसी बात का पुष्टीकरण है कि कवि की प्रतिभा-दृष्टि से देखे जाने पर समस्त विश्व काव्य-नाट्य में प्रतिबिम्बित हुआ करता है।

आचार्य मम्मट ने व्युत्पत्ति को लोक, शास्त्र और काव्यादि के अवेक्षण से संभूत 'निपुणता' माना है। कवि की यह निपुणता उसकी काव्य-कृति में झलका करती है। मम्मट के अनुसार जब काव्य 'लोकोत्तरवर्णनानिपुणकवि-कर्म' है क्योंकि काव्य में न तो शब्द का प्राधान्य है और न अर्थ का, किन्तु उसका, जिसे- 'रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणता' कहा जाता है, तब तो यह स्वयं सिद्ध है कि व्युत्पत्ति अथवा निपुणता की पहचान 'लोकोत्तरवर्णना' है न कि शास्त्रादि-पाण्डित्य-प्रदर्शन। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने व्युत्पत्ति को प्रतिमा का ही निष्यन्द माना है :—

'रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः। क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते। येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥

(व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १०८)

अर्थात् 'कवि की प्रतिभा शिव का तृतीय नेत्र है जिसकी शक्ति सर्वत्र अप्रतिहतप्रसर है क्योंकि जीवन की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो इसका विषय न बन जाय।

कवि की 'व्युत्पत्ति' वस्तुतः कवि-प्रतिभा की देन है—यह धारणा पाश्चात्य कवियों और काव्य-विमर्शकों में भी काव्य के प्रति एक नयी चेतना उत्पन्न करती रही है। यहाँ महाकवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) की यह उक्ति कि :—

'Poetry is the breath and finer spirit of all knowledge' अर्थात् 'जिसे कविता कहते हैं उसमें मानव के समस्त ज्ञान-विज्ञान का सार-तत्त्व और सुन्दर रहस्य अन्तर्निहित रहा करते हैं', जहाँ कविता के स्वरूप का स्पर्श कर रही है वहाँ कविता में 'व्युत्पत्ति' के रहस्य का भी प्रकाशन करती प्रतीत हो रही है।

काव्य के हेतु-तत्त्व में 'अभ्यास' का भी स्थान है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने 'अभ्यास' को काव्य-हेतु-तत्त्व में स्थान देकर इस बात को प्रकट किया है कि कवि के लिये अपनी कला और उसके अङ्ग और उपाङ्गों का व्यावहारिक ज्ञान और उपयोग नितान्त आवश्यक है। आलङ्कारिकों के पूर्वाचार्य भामह की यह उक्ति :—

'शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥' (काव्यलङ्कार १. १०)

काव्यकृतियों की रचना में कविजन की अभ्यास-दशा का निरूपण कर रही है। आचार्य वामन ने 'अभ्यास' का ही 'अभियोग-वृद्धसेवा-अवेक्षण' के रूप में विश्लेषण किया है। काव्यबन्ध में उद्यम जब तक हो तब तक काव्य-रचना नहीं हो सकती; काव्य विषय के आचार्यों का सान्निध्य जब तक न मिले तब तक काव्य-विद्या की हृदय में संक्रान्ति असंभव है और जब तक

अवेक्षण का सामर्थ्य न हो तब
पदों के आधान और उद्धरण-न्यास और अपन्यास-में पर्याप्त अवेक्षण का सामर्थ्य न हो तब
तक काव्य-कृति संभव नहीं। बिना उद्यम के, बिना अभियोग के, बिना अभ्यास के 'शब्दपाक'
अथवा 'निष्कम्प शब्दनिवेश' जो कि अन्य समस्त साहित्य-भेदों से काव्य का परिच्छेदक
धर्म है, क्योंकर संभव हो? वामन ने 'अभ्यास' का इसी लिये ऐसा निरूपण किया है :—

'आधानोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः। पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥
यत्र पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥'

(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १. ३)

अर्थात् 'कविजन के लिये 'शब्द-पाक' का अभ्यास आवश्यक है क्योंकि बिना इसके कौन
ऐसा कवि है जो अपने सामाजिकों को 'काव्य-प्रसाद' बांट सके ?, किन्तु ध्वनि-दार्शनिक
आलङ्कारिक काव्य के उद्भव में 'अभ्यास' को कोई स्थान नहीं दिया करते। आनन्दवर्धनाचार्य के
अनुसार व्युत्पत्ति और अभ्यास कवि-प्रतिभा के ही स्पन्दभूत हैं। काव्य-रचना का अभ्यास
क्या? अभ्यास तो शब्दार्थ-रचना का हुआ करता है और जिसे 'काव्य' कहते हैं वह शब्दार्थ-
रचना नहीं। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की कविताओं में प्रतिभा का हाथ है न कि अभ्यास
का। अभ्यास से तो 'कतिपय पदों का हठात् आकर्षणमात्र' सम्भव है न कि काव्य-निर्माण। जिसे
काव्य की 'बन्धच्छाया'–'रचना सौन्दर्य' कहते हैं उसके लिये भी 'प्रतिभान' की ही आवश्यकता
है न कि 'अभ्यास' की :—

'बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते? अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्थनिरपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्त्तेत।' (ध्वन्यालोक, ४.६)

ध्वनिवाद के परम समर्थक आचार्य मम्मट ने काव्यरचना में 'अभ्यास' को जो स्थान दिया है उसका अभिप्राय ध्वनि-दर्शन के प्रवर्त्तक आनन्दवर्धन का खण्डन नहीं, अपि तु एक प्रकार से मण्डन है। मम्मट के अनुसार 'अभ्यास' है '(काव्यस्य) करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिः' अर्थात् 'काव्य की रचना किंवा काव्य की भावना में कविजन किंवा रसिक जन की सतत उद्योग-शीलता।' वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की काव्यकृतियों का जब तक रस-पान नहीं किया जाय, उनकी 'बन्धच्छाया' की विशेषताओं का जब तक अपनी-अपनी पद-रचना में आधान करने में उत्सुकता न दिखायी जाय, काव्य-कला के उपकरणों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान का जब-तक सम्पादन न किया जाय, तब तक काव्य-संसार में 'नवीन सर्ग' का प्रदर्शन क्यों कर हो पाय! प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास के 'संवलित त्रितय' की काव्य-सृष्टि में वही आवश्यकता है जो जगत्-सृष्टि में सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था-प्रकृति अथवा शाङ्करी माया की आवश्यकता है। सिद्धसारस्वत कविजन की कृतियों में 'अभ्यास' की दशा का दर्शन नहीं हो सकता—इसलिये सभी काव्यकलाकार काव्य-रचना का अभ्यास न करें, यह ध्वनि-दर्शन की धारणा नहीं। ध्वनि-काव्य और गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का विवेक भी कविजन के लिये काव्यरचना का एक अभ्यास है। 'काव्य-संवाद' अथवा काव्यकृतियों में परस्पर भाव-साम्य, रचना-साम्य आदि का परिज्ञान भी कविजन का काव्य-कला का अभ्यास है। वाच्यवाचकप्रपञ्च किं वा व्यङ्ग्यव्यञ्जकप्रचय का विवेक भी कवियों और सहृदयों का

काव्य-रचना किं वा काव्य-भावना का अभ्यास है। कालिदास ने यह अभ्यास किया, भवभूति ने यह अभ्यास किया, न तो कविजन का इस अभ्यास से विमुख होने में कोई उद्देश्य है और न रसिकजन का। ध्वनि-दर्शन के प्रवर्त्तक और प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने कवि में शक्तिरूप से अवस्थित सहृदय-भाव और सहृदय में शक्तिरूप से अवस्थित कवि-भाव का जो सुंदर निरूपण किया है :—

'रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं (ध्वनेः स्वरूपं सकल-**सत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वं) लक्षयतां सहृदयानाम्'।**

(ध्वन्यालोक १.१)

'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः'।

(ध्वन्यालोकलोचन १.१)

उसी में यह स्पष्ट है कि ध्वनि-वाद की दृष्टि से काव्य-निर्माण अथवा काव्य-भोग में 'अभ्यास' का भी कुछ हाथ है। ध्वनि-वाद की काव्य-सृष्टि में एकमात्र कवि-प्रतिभा के संरम्भ की मान्यता से क्रुद्ध होकर कुछ आलङ्कारिकों जैसे कि आचार्य 'मङ्गल' आदि ने केवल 'अभ्यास' को ही काव्य-कारण मान लिया था :—

'अभ्यासः (काव्यकर्मणि परं व्याप्रियते) इति मङ्गलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते।'

(काव्यमीमांसा ४)

आचार्य मम्मट ने प्राचीन अलङ्कारशास्त्रियों के इस कोप की शान्ति के लिये ध्वनिवाद की दृष्टि से 'अभ्यास' का स्वरूप-निर्धारण किया और 'अभ्यास' को 'शक्ति' और 'निपुणता' के साथ संवलित काव्य-हेतु सिद्ध कर वही सिद्धान्त स्थापित किया जिसे ध्वनि-दर्शन के प्रवर्त्तक और प्रतिष्ठापक ने संकेतरूप से निरूपित किया था। आचार्य मम्मट की यह काव्यहेतु दृष्टि पाश्चात्य काव्यमर्मज्ञों की भी दृष्टि है :—

'An artist must be a craftsman but a craftsman need not be an artist.

अर्थात् जो कवि है उसमें अपनी कला की कुशलता तो अवश्य ही हुआ करती है किन्तु जो कवि नहीं है वह कितना भी काव्य-कला-कुशल क्यों न हो, 'काव्य' नहीं रच सकता।

३. मम्मट और काव्य-स्वरूप-निरूपण

मम्मट का काव्य-स्वरूप-निरूपण अलङ्कारशास्त्र की काव्य-विषयक प्राचीन और नवीन धारणाओं और भावनाओं का समञ्जस समन्वय है। मम्मट के पूर्ववर्ती काव्याचार्य जहाँ अपनी-दृष्टि से काव्य-लक्षण का अन्त करते हैं वहाँ मम्मट का काव्य-लक्षण प्रारम्भ होता है और मम्मट के जो उत्तरवर्ती आलङ्कारिक हैं वे तो मम्मट-कृत काव्य-लक्षण की आलोचना-प्रत्यालोचना में ही अपने काव्य-लक्षण की रूप-रेखा रचते प्रतीत होते हैं।

भामह और दण्डी प्रभृति काव्याचार्यों ने, जिन्हें अलङ्कारवाद का प्रवर्त्तक कहा जाता है, काव्य-स्वरूप में 'अलंकृत शब्दार्थयुगल' का दर्शन किया है। 'अलङ्कार ही काव्य-सर्वस्व है', 'अलंकृत शब्दार्थ-रचना ही कविकर्म है'—यह अलङ्कारवाद की काव्य-सम्बन्धी मान्यता काव्य के कला-पक्ष में ही काव्य का रहस्य ढूँढा करती है। 'काव्य कवि की कृति है और इस कृति में 'शब्दार्थ साहित्य' रूप काव्य उत्पन्न हुआ करता है। शब्द और अर्थ का सहभाव तो नैसर्गिक

सहभाव है ही किन्तु कवि का कार्य इस सामान्य 'शब्दार्थ-साहित्य' में, अलङ्कार-योजना के द्वारा, विशेषता का आधान करना है'—इस अलङ्कार-तत्त्व-दर्शन में इतना तो सिद्ध ही है कि शास्त्रादि काव्य नहीं और न इतिहासादि ही काव्य है क्योंकि शास्त्रादि में कर्त्तव्याकर्त्तव्यसम्बन्धी विधि-निषेध की दृष्टि से शब्द-प्राधान्य और इतिहासादि में कार्याकार्यविषयक अनुज्ञा-अननुज्ञा की दृष्टि से अर्थ-प्राधान्य स्वाभाविक है। 'अलङ्कार-योजना' कवि-कला है क्योंकि इसी के द्वारा शब्द और अर्थ का ऐसा 'साहित्य' रचा जाया करता है जिसका उद्देश्य विधि-निषेध किं वा अनुज्ञा-अननुज्ञा से सर्वथा परे एकमात्र सौन्दर्य की सृष्टि हुआ करता है।

प्राचीन आलङ्कारिक आचार्यों का काव्य-स्वरूप के दर्शन का जो दृष्टि-कोण है वह विश्लेषणात्मक है। विश्लेषणात्मक इस दृष्टि से कि इसके अनुसार काव्य 'शब्दार्थ-साहित्य की रचना' में माना जाया करता है अर्थात् काव्य की भाषा अन्य समस्त ज्ञान-विज्ञान के प्रतिपादन की भाषा से एक भिन्न भाषा मानी जाया करती है और इस 'भिन्न भाषा' की जो विशेषता हुआ करती है वह अलङ्कार की वर्ण-माधुर्य, उक्ति-वक्रता, कल्पना-वैचित्र्य आदि आदि की विशेषता है।

अलङ्कार-वाद की इस विश्लेषणात्मक काव्य-समीक्षा की समीक्षा में रीति-वाद का उद्भव हुआ है। रीतिवाद के अनुसार भी काव्य का स्वरूप 'विशिष्ट शब्दार्थ-रचना' में ही है किन्तु पदरचना के इस वैशिष्ट्य में अलङ्कारों का हाथ नहीं अपि तु 'अलङ्कार'-'सौन्दर्य' का हाथ माना गया है। रीति-वादी आचार्य वामन का दृष्टिकोण एक दृष्टि से समन्वयात्मक हो गया है क्योंकि इसके अनुसार-'काव्य' और 'लोक'-दोनों में 'सौन्दर्य' ही 'ग्राह्यता' अथवा 'उपादेयता' को निमित्तभूत माना गया है। वामन के लिए 'अलङ्कार' 'सौन्दर्य' का वाचक है—'अलङ्कृतिरलङ्कारः' (काव्या-लङ्कारसूत्रवृत्ति १.१.२)। 'काव्य' का यह 'अलङ्कार' अथवा 'सौन्दर्य' गुण का कार्य है जो कि शब्द और अर्थ के धर्म रूप से अवस्थित रहा करते हैं। प्राचीन भामह, दण्डी आदि आलङ्कारिकों के अनुप्रास-उपमादि शब्दार्थालङ्कार इसी सहज सौन्दर्य के उत्कर्षवर्द्धन में चरितार्थ माने गये हैं 'काव्य' की शोभा के एकमात्र निदान गुणों का काव्य में वही स्थान है जो किसी रमणी की शोभा के एकमात्र कारण यौवन का रमणी-शरीर में है। बिना गुणजन्य सहज सौन्दर्य के काव्य में अलङ्कार उसी प्रकार खटकने वाले हुआ करते हैं जिस प्रकार बिना यौवन के रमणी-शरीर में कटक, कुण्डलादि।

रीति-वाद में भी अलङ्कार-वाद की ही भांति 'काव्य' और 'काव्येतर' साहित्य-भेदों का नियामक भाषा का सौष्ठव और असौष्ठव ही अन्ततोगत्वा सिद्ध होता है। आचार्य वामन का स्पष्ट निर्णय है :—

'किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता चेतः सतामममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा॥

(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १.२.२१)

जिसका अभिप्राय यही है कि काव्य इसीलिये 'विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य' रूप हुआ करता है क्योंकि इसकी जैसी 'पदानुपूर्वी', जो कर्ण-कुहर में अमृतवृष्टि सी प्रविष्ट करती है और हृदय में आनन्द का सञ्चार करती है, अन्यत्र कहीं नहीं पायी जा सकती।

अलङ्कार-वाद और रीति-वाद की काव्यालोचना-पद्धतियाँ 'काव्य' को कवि की कला-कृति के

रूप में ही देखा करती हैं और अलङ्कृत (भामह की दृष्टि से अलङ्कृत = अलङ्कारयुक्त और वामन की दृष्टि से अलङ्कृत = सुन्दर) पदरचना को, 'काव्य' रूप कवि-कला-निर्माण मान कर, अन्य समस्त साहित्य-प्रकारों से सर्वथा भिन्न सिद्ध करती हैं। इन पद्धतियों में सामाजिक-जन पर काव्य के प्रभाव का कोई विश्लेषण नहीं हुआ। यद्यपि भामह ने भी काव्य के प्रभाव का एक प्रकार से निर्देश किया है :—

'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते। प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥'

(काव्यालंकार ५. ३)

जिसके अनुसार अलंकृत शब्दार्थ, साहित्य-रूप 'काव्य' सहृदय के लिये 'रसनीय' माना गया है और वामन ने भी सुन्दर पदरचना-रूप 'काव्य' को आनन्ददायक किंवा चमत्कारकारक माना है :-

'वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्रीर्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ॥'

(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १. २. २१)

किन्तु कवि की 'अलङ्कार-युक्त' अथवा 'सहज सुन्दर और साथ ही साथ अलंकृत' पदरचना और सहृदय सामाजिक की 'रसनीयता' अथवा 'आनन्दानुभूति' के परस्पर सम्बन्ध का न तो भामह ने ही अपनी समीक्षा में कोई विचार किया है और न वामन ने ही।

भामह और वामन की काव्य-विषयक धारणाओं के समन्वय में 'वक्रोक्ति-वाद' की उत्पत्ति हुई। कुन्तक का 'वक्रोक्ति' को काव्य-सर्वस्व मानना इस बात का प्रमाण है कि कुन्तक ने 'काव्य' के स्वरूप-चिन्तन में कवि की कला पर ध्यान रखा है न कि सहृदय-हृदय पर पड़ने वाले काव्य के प्रभाव पर। कुन्तक को ध्वनि-वाद में जो बात खटकी थी वह यह थी कि ध्वनि को काव्य-सर्वस्व मानने में 'काव्य' सहृदय-हृदय की रसानुभूतिमात्र रह जाता है न कि कवि की कृति के रूप में इसका कोई महत्त्व है। यद्यपि ध्वनि-वादी आचार्यों ने ध्वनि-दर्शन के स्थापन में इस बात पर भी पूरा ध्यान रखा था कि 'काव्य' कवि की दृष्टि से रस-सृष्टि है और सहृदय की दृष्टि से रसानुभूति किन्तु वक्रोक्ति-वाद ने ध्वनि-वाद के खण्डन में इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। वक्रोक्ति-वाद के अनुसार 'वक्रोक्ति' ही काव्य-जीवित है, काव्य का सारभूत तत्त्व है। कवि-कलाकार हुआ करता है, 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' कवि का व्यापार है, जिसे 'काव्य' रूप कलाकृति कहते हैं, वह इसी कवि-व्यापार का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है और यह कवि-व्यापार अन्ततोगत्वा कवि के वैयक्तिक स्वभाव से सम्बद्ध है'—वक्रोक्ति-वाद की यह मान्यता विशिष्ट शब्दार्थ-साहित्य रूप काव्य को कवि-कौशल सिद्ध करती है। यह कवि-कौशल ही वह तत्त्व है जो 'उक्ति' को 'भङ्गीभणिति' बनाया करता है, 'साहित्य' को 'आह्लाद-सार' प्रकट किया करता है :—

'मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः। अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्। स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदाह्लादैकनिबन्धनम्। पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते ॥'

(वक्रोक्तिजीवित, १म उन्मेष)

अलङ्कार शास्त्र के उपर्युक्त विविध वादों में 'काव्य' का सम्पूर्ण विश्लेषण नहीं अपितु अंश-विश्लेषण अवश्य किया हुआ है। मम्मट का काव्य-स्वरूप-चिन्तन काव्य का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण है। आनन्दवर्धनाचार्य की 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की धारणा मम्मट का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

है। काव्य को इसी दृष्टिकोण से देखते हुये मम्मट ने अलङ्कारशास्त्र के समस्त काव्य-वादों का अपने काव्य-लक्षण में समन्वय स्थापित कर दिखाया है। मम्मट का काव्य-लक्षण है :—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि '

यह काव्यलक्षण न तो अलङ्कारों अथवा गुणों की दृष्टि से 'काव्य' का स्वरूप-निरूपण करता है, न उक्ति-वक्रता की दृष्टि से विशिष्ट शब्दार्थसाहित्य में 'काव्य' की रूप-रेखा दिखाता है और न केवल व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से ही 'काव्य' का उन्मीलन किया करता है। इसमें अलङ्कार-गुण-उक्ति वैचित्र्य और ध्वनि सबका समन्वय है और सबका उचित स्थान और महत्त्व निर्दिष्ट है। केवल छन्दोरचना के निर्वाह के लिये नहीं, अपितु काव्य-सर्वस्व के संकेत के लिये सर्वप्रथम 'काव्य' का 'तत्' शब्द से परामर्श किया हुआ है। 'काव्य' का स्वरूप रस-सृष्टि और रसानुभूति में ही उन्मीलित हुआ करता है—इसके प्रकाशन के लिये मम्मट ने जिस 'तत्' शब्द का प्रयोग किया है वह वही 'तत्' शब्द है जिसकी भावना में ध्वनि-दर्शन के प्रवर्त्तक आनन्दवर्धन ने यह कहा है :—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥' (ध्वन्या १. १३)

और यह भी :—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥' (ध्वन्या. १. ६)

जिसका यही तात्पर्य है कि कवि के लिये 'काव्य' अन्ततोगत्वा उस 'अर्थवस्तु' की सृष्टि है जो सरस्वती का आनन्द-निष्यन्द है, कवि की प्रतिभा का प्रवाह है और सहृदय के लिये 'काव्य' उस 'अर्थवस्तु' का वह आस्वादन है जो सरस्वती का आनन्द-निष्यन्द-पान है और सहृदयता की प्रतिभा का प्रसार है।

ध्वनि-दार्शनिक आचार्य 'काव्य' का सर्वाङ्ग विश्लेषण करके भी उसे 'रसरूपतत्त्व' का शब्दार्थमय अवतार माना करते हैं। काव्य साक्षात् सरस्वती का प्रसाद है—यह ध्वनि-दर्शन की भावना 'काव्य' में कवित्व और सहृदयतत्त्व का समुन्मेष देखा करती है। कवि-कला की दृष्टि से काव्य का विश्लेषण जैसे एक एकांगी विश्लेषण है वैसे ही सहृदयतानुभूति की दृष्टि से काव्य का स्वरूप-निरूपण भी काव्य का आंशिक ही निरूपण है। कवि और सहृदय काव्य में जिस केन्द्र पर मिला करते हैं उसी में काव्य की काव्यता निहित है और वह केन्द्र न तो अलङ्कार-योजना है और न गुणविशिष्ट पदरचना और न वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति, अपितु 'रस-निष्पत्ति' है और रस-निष्पत्ति क्या है? 'रस-निष्पत्ति' है रस की योजना और रस की भावना जिसे एक शब्द में 'रसाभिव्यक्ति' कह सकते हैं।

इसी 'रसाभिव्यक्ति' के केन्द्र में खड़े होकर ध्वनि-वादी आचार्यों ने 'काव्य' को समस्त ज्ञान-विज्ञान-राशि से सर्वथा पृथक् किंवा लोकोत्तर वस्तु के रूप में देखा है। वेदादि-शास्त्र 'काव्य' नहीं हो सकते, क्योंकि न तो इनके रचयिताओं का उद्देश्य रस-योजना है और न इनके अधिकारियों का उद्देश्य रस-भावना है। वेदादि-शास्त्रों का उद्देश्य विधि-निषेध है जिसके पालन में धर्म और उल्लंघन में अधर्म का भाव रखना पड़ता है। इतिहास-पुराणादि भी 'काव्य' नहीं क्योंकि इनके रचयिताओं और साथ ही साथ पाठकों को रस-सृष्टि और रसानुभूति नहीं करनी पड़ती

अपितु जीवनोपयोगी वस्तुओं के प्रति अनुज्ञा और तदनुसार आचरण का ही कार्य करना पड़ता है। 'काव्य' न तो सहृदय सामाजिक को 'ऐसा करो, ऐसा न करो' की आज्ञा से किसी ओर प्रवृत्त अथवा प्रेरित करता है और न 'ऐसा करना चाहिये, ऐसा न करना चाहिये' की मित्रता की भावना से ही किसी बात की अनुज्ञा दिया करता है। काव्य अपने सामाजिकों को अपनी ओर आकृष्ट किया करता है। काव्य का यह आकर्षण उसके हृदय का आकर्षण है न कि उसके शरीर का। यह आकर्षण उसी प्रकार का है जो कि किसी रमणी का अपने प्रेमी के प्रति हुआ करता है। कोई रमणी अपने अलङ्कार-भार से किसी का हृदय वश में नहीं कर सकती, गुणों के द्वारा किसी को आकृष्ट करने में पर्याप्त समय और सुविधा की आवश्यकता है, वह तो अपने हृदय के स्नेह-रस से ही किसी को अपनी ओर सहसा खींच सकती है। यही बात काव्य के लिये भी सर्वथा लागू है। काव्य का हृदय रस का सार है और इसी हृदय में वह शक्ति है जो सहृदय-हृदय को आकृष्ट किया करती है।

ध्वनि-वादी आचार्यों की दृष्टि से मम्मट ने भी काव्य का रहस्य 'रस' का ही रहस्य माना है किन्तु मम्मट का कार्य 'काव्य-विशेष' का स्वरूप-निरूपण नहीं अपितु काव्य का स्वरूप-निरूपण है। 'काव्य-विशेष' का निरूपण तो आनन्दवर्धनाचार्य के रस-ध्वनि-तत्त्व के निरूपण में ही हो चुका था। मम्मट ने 'काव्य' का स्वरूपोन्मीलन इस दृष्टि से किया है कि जिसमें काव्य के प्रकारों का स्वरूप समन्वित हो जाय।

मम्मट की दृष्टि में भी 'काव्य' कवि-कर्म है और 'विशिष्टशब्दार्थसाहित्यरूप' ही है। किन्तु मम्मट के अनुसार कवि वह है जो 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण' हुआ करता है। 'लोकोत्तरवर्णना' ही विभावादि-संयोजना है। जीवन के अनुभवों को, जगत के विषयों को, ज्ञान-विज्ञान की बातों को, कि बहुना, समस्त वस्तुओं को विभावादि रूप में ढाल देना लोकोत्तर कृत्य नहीं तो और क्या है? काव्य में सारा संसार कवि के हृद्गत भाव-रूप में परिणत हुआ करता है न कि भिन्न-भिन्न विषय-रूप में। इसलिये काव्य वस्तुतः 'रसाङ्गभूतव्यापारप्रवण' हुआ करता है न कि शब्द-प्रधान अथवा अर्थ-प्रधान।

रस-सृष्टि तो कवि-कर्म अथवा कवि-कला है ही और प्रत्येक कवि इसीलिये काव्य-निर्माण में प्रवृत्त हुआ करता है किन्तु जिसमें जितनी 'प्रतिभा' अथवा जितनी 'लोकोत्तरवर्णनाशक्ति' हुआ करती है उसी के अनुपात में उसकी शब्दार्थरचना 'काव्य' के रूप में निखरा करती है। इसी प्रकार एकमात्र रसानुभूति ही सहृदय के लिये काव्य का प्रयोजन है और इसीलिये कोई भी सहृदय 'काव्य' की ओर झुका करता है किन्तु जिसमें जितनी 'प्रतिभा' और जितनी 'रस-भावनाशक्ति' हुआ करती है उसी के अनुपात में उसकी काव्यानुभूति रसास्वाद के रूप में निखरा करती है। जैसे कविजनों की तीन श्रेणियाँ उत्तम, मध्यम और अधम स्वभावतः सम्भव हैं और सहृदय भी इन्हीं तीन श्रेणियों में विभक्त रहा करते हैं वैसे ही काव्य भी उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन श्रेणियों में ही विभाजित किया जा सकता है। मम्मट ने 'काव्य' का जो लक्षण बताया है वह तीनों श्रेणियों के काव्यों में अनुगत है। सामान्य शब्दार्थ तो काव्य-निर्माण के साधन हैं और उसी प्रकार साधन हैं जिस प्रकार शास्त्र-निर्माण के अथवा लोक-व्यवहार के। किन्तु किसी कवि की लोकोत्तर-वर्णना-शक्ति इन्हीं सामान्य शब्दों और अर्थों में ऐसी शक्ति भर

दिया करती है जिससे ये रस-सृष्टि करने में समर्थ हो जाया करते हैं। जिन शब्दों और अर्थों में जितनी रस-सृष्टि की शक्ति हुआ करती है वे शब्द और अर्थ उतने ही उत्तम 'काव्य' कहे जाया करते हैं। मम्मट का आदर्श 'काव्य' तो वस्तुतः ऐसा ही शब्दार्थ-साहित्य है जो रस-निर्भर और रसाभिव्यञ्जक हुआ करता है और इसी का चिन्तन मम्मट की सरस्वती-वन्दना में किया हुआ है :—

'नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥'

(काव्यप्रकाश : आरम्भमङ्गल)

किन्तु मम्मट का काव्य-लक्षण इस आदर्श काव्य का ही लक्षण नहीं अपि तु ऐसा लक्षण है जो काव्य-प्रकारों में भी अनुगत है।

केवल 'शब्दार्थ-साहित्य' काव्य नहीं किन्तु ऐसा शब्दार्थसाहित्य, जो 'अदोष' हो, 'सगुण' हो और 'यथासम्भव अलङ्कृत' भी हो, 'काव्य' है—यह मम्मट-कृत काव्य-लक्षण जिस प्रकार उत्तम काव्य को लक्षित करता है उसी प्रकार मध्यम और अधम काव्य को भी। शब्द और अर्थ की 'अदोषता' काव्यालोचना की प्राचीनतम मान्यताओं में से है। अलङ्कार-वाद के आचार्य भामह ने काव्य को 'शब्दार्थ-साहित्य' ('शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'—काव्यालङ्कार १. १६) तो अवश्य कहा है किन्तु उनके अनुसार भी इस शब्दार्थ-साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता 'अदोषता' ही है—

'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥' (काव्यालङ्कार १. ११)

अर्थात् 'कवि की पदरचना यदि सदोष हुई तो उसे उसी प्रकार निन्दित होना पड़ता है जिस प्रकार कोई पिता दुष्ट पुत्र के उत्पादक होने के कारण निन्दित हुआ करता है।'

किन्तु भामह की दृष्टि में 'शब्दार्थ-साहित्य' की 'अदोषता' का जो अभिप्राय है वही मम्मट की दृष्टि में नहीं। भामह के अनुसार तो 'दोष' कवि की अव्युत्पत्ति अथवा अनभ्यास के परिणाम-मात्र हैं किन्तु मम्मट के अनुसार 'दोष' कवि की रस-योजना-सम्बन्धी अशक्ति के प्रकाशक हैं जिनके कारण रस-चर्वणा में बाधा पहुँचा करती है। 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण, कवि के अव्युत्पत्ति-कृत दोष तो पता नहीं चला करते'—आनन्दवर्धनाचार्य की यह दोष-समीक्षा मम्मट की भी दोष-समीक्षा है और इसी दृष्टि से मम्मट ने 'अदोषता' को 'शब्दार्थ-साहित्य' की विशेषता के रूप में स्वीकार किया है। सर्वोत्तम 'शब्दार्थ-साहित्य' में, 'रस-ध्वनि-काव्य' में यह 'अदोषता' सर्वप्रथम रसगत दोष के अभाव का अभिप्राय रखती है। रससमाहितचित्त कवि की रचना में रस-गत दोष तो पहले हो ही नहीं सकते, किन्तु यदि कोई पद-पदार्थ-गत दोष स्थूल दृष्टि से दिखाई भी पड़ जाय—और इसका दिखाई पड़ना तभी सम्भव है जब हम रसास्वाद की भूमिका से बाहर खड़े हों—तो भी वह छिपा-छिपाया ही पड़ा रहता है, रस-विघातक अथवा रस की उत्कृष्ट-प्रतीति में बाधक नहीं बना करता। उत्तम काव्य की यह 'अदोषता' वस्तुतः मम्मट की दृष्टि में भी वही अभिप्राय रखती है जिसे प्राचीनाचार्यों ने प्रतिपादित किया है :—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता। दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥'

अर्थात् 'उस काव्य में जो रस निर्भर हो, जिससे सहृदय-हृदय आह्लादित हो, यदि कोई दोष भी हो तो वह उसी प्रकार सहृदयों और काव्याचार्यों द्वारा नगण्य माना जाया करता है जिस

प्रकार किसी 'रत्न' का कोई छोटा-मोटा दोष उसके पारखी लोगों के द्वारा नगण्य ही समझा जाया करता है।'

गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यम) काव्य अथवा चित्र-काव्य की 'अदोषता' का अभिप्राय अव्युत्पत्ति और अनभ्यास-सम्बन्धी दोषों के अभाव का अभिप्राय है। अलङ्कार अथवा रीति-वादी आलङ्कारिकों की काव्य-सम्बन्धी 'अदोषता' की यह मान्यता ध्वनि-वादी आचार्यों ने स्वीकार तो अवश्य की है किन्तु इसमें 'रसबन्धविषयक औचित्य-निर्वाह' का रहस्य देखा है न कि 'पदादि-गत अनवद्यता' का। मम्मट के इस दृष्टिकोण को न पहचान कर ही कविराज विश्वनाथ ने 'अदोषता' की शब्दार्थ-सम्बन्धी विशेषता पर कटाक्ष किये हैं। ध्वनि-वाद के परमाचार्य की दृष्टि में जहाँ यह सूक्ति :—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥'

एक सर्वाङ्गसुन्दर रस-बन्ध-प्रकार के रूप में दिखायी देती है जिसमें रस-व्यञ्जकता की सर्वत्र बहुलता ही विराज रही है वहाँ इसमें विश्वनाथ कविराज ने 'विधेयाविमर्श' दोष का निरीक्षण कर लिया है और इसके आधार पर मम्मट के काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ की 'अदोषता' की विशेषता को निरर्थक सिद्ध करने की चेष्टा की है। मम्मट की दृष्टि में यह रचना इसलिये उत्तम काव्य है क्योंकि इसमें सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत्, तद्धित और समास आदि सभी के सभी रसाभिव्यञ्जक रूप से ही प्रयुक्त हैं क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त की भी यहाँ यही धारणा है कि चाहे जैसा भी यहाँ व्यञ्जक-बाहुल्य का विश्लेषण किया जाय, सबका निष्कर्ष यही है कि यह रचना रस की सर्वाङ्गसुन्दर अभिव्यञ्जक रचना है—**'तेन तिलशस्तिलशोऽपि विभज्यमानेऽत्र श्लोके** (न्यक्कारो ह्ययम् इत्यादौ) **सर्व एवांशो व्यञ्जकत्वेन भातीति किमन्यत्'** (ध्व० लोचन, तृतीय उद्योत)। इस रचना में 'विधेयाविमर्श' दोष वीरभावाविष्ट 'रावण'-रूप वक्ता के औचित्य से दोष नहीं अपितु गुण-रूप में परिवर्तित हो रहा है। मम्मट ने सर्वप्रथम 'अदोषौ शब्दार्थौ' को काव्य-स्वरूप का परिच्छेदक मान कर रसभङ्ग के कारण 'अनौचित्य' के अभाव का अभिप्राय प्रकट किया है। मम्मट का पदादि दोष-विवेचन भी अन्ततोगत्वा रस के परम्परया विघातक अथवा अपकर्ष-कारक तत्त्वों का ही विवेचन है। जहाँ रस-विवक्षा न हो ऐसे काव्य में शब्द और अर्थ की 'अदोषता' इसलिये आवश्यक है क्योंकि बिना इसके 'मुख्यभूत अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती और यदि होगी तो विलम्ब से होगी और उसमें कोई चमत्कार नहीं प्रतीत हो सकेगा।

आचार्य मम्मट की दृष्टि में 'दोष' गुण के विपर्यय-मात्र नहीं अपितु कविविवक्षित अर्थ (रस-आदि रूप सभी अर्थ) के अपकर्षकारक होने से, भावरूप पदार्थ हैं और इसी दृष्टि से उन्होंने सर्वप्रथम 'विशिष्ट शब्दार्थ-साहित्य रूप' काव्य में 'अदोषता' का निरूपण किया है। 'विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य' की दूसरी विशेषता 'सगुणता' है। रीतिवादी आचार्य वामन ने जिस 'सगुणता' के कारण पदरचना को काव्य का अन्तिम रहस्य मान लिया है उसी 'सगुणता' को आचार्य मम्मट ने काव्यरूप शब्दार्थ साहित्य की एक विशेषता के रूप में प्रतिपादित किया है। आचार्य वामन की दृष्टि में शब्दार्थगत 'सगुणता' का जो रहस्य है वही आचार्य मम्मट की दृष्टि में

नहीं। वामन के अनुसार तो गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं किन्तु मम्मट के अनुसार गुण 'रस' के धर्म हैं। मम्मट के अनुसार शब्द और अर्थ की 'सगुणता' की विशेषता शब्द और अर्थ की रसाभिव्यञ्जकता है क्योंकि अन्ततोगत्वा गुण अभिव्यङ्ग्य रस के धर्मरूप से सहृदय-हृदय में अभिव्यङ्ग्य हुआ करते हैं।

मम्मट ने 'रसवत्ता' अथवा 'सरसता' को शब्दार्थ-साहित्य का वैशिष्ट्य न बता कर 'सगुणता' को जो उसका वैशिष्ट्य बताया है वह इसी दृष्टि से कि रसादिरूप उत्तम काव्य के अतिरिक्त मध्यम और अधम काव्य भी इससे लक्षित हो सकें। रसादिरूप उत्तम काव्य में शब्द और अर्थ की 'सगुणता' एकमात्र उनका रसाभिव्यञ्जन-सामर्थ्य है। मध्यम और चित्र-काव्य में शब्दार्थ-साहित्य की यह 'सगुणता' यथासंभव औपचारिक अभिप्राय रखती है क्योंकि सुकुमार किंवा कठोर वर्ण-पद आदि ही उपचारतः मधुर अथवा ओजस्वी कहे जाया करते हैं और कहे भी जा सकते हैं। सुकुमार अथवा कठोर वर्ण-पद आदि में ही माधुर्य अथवा ओज मानना और इस दृष्टि से शब्दार्थ-साहित्य को 'सगुण' समझना तो मम्मट की दृष्टि से उन आलङ्कारिकों का काम है जो 'रसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीतिवन्ध्य' हुआ करते हैं, ऐसे हुआ करते हैं जिनकी काव्यानुभूति रसानुभूति तक पहुँचने में असमर्थ रहा करती है।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मम्मट की काव्य-परिभाषा आपाततः भले ही अलङ्कार अथवा रीति-वादी आचार्यों की काव्य-परिभाषा सी लगे किन्तु वस्तुतः अन्ततोगत्वा इसमें ध्वनि-वाद-सम्मत काव्य-धारणा ही अन्तर्निहित दिखाई देती है। ध्वनि-वाद की दृष्टि से अलङ्कार और रीति-वादी प्राचीन आचार्यों की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं का सामञ्जस्य और समन्वय इसका उद्देश्य है और इस उद्देश्य में यह काव्य-परिभाषा जितनी सफल हुई है उतनी और कोई भी काव्य-परिभाषा अब तक नहीं होने पायी। ध्वनिकार आनन्दवर्धन का यह काव्य लक्षण :—

'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।' (ध्वन्यालोक, १म उद्योत)

लगता तो 'काव्य-लक्षण' सा है किन्तु है 'काव्य-विशेष' का लक्षण। ध्वनिकार के इस काव्य-लक्षण में 'आह्लाद' अथवा 'रस' में जो काव्य-स्वरूप-दर्शन किया गया है उससे यह काव्य-लक्षण सहृदय सामाजिक की दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हो किन्तु काव्यालोचक की वैज्ञानिक दृष्टि से तो एकाङ्गी ही है। ध्वनिकार के अभिप्राय का रहस्य हृद्गत रखते हुये सर्वप्रथम मम्मट ने ही काव्य का ऐसा लक्षण किया है जो सर्वथा चतुरस्र है और सर्वतोभद्र है।

मम्मट के काव्य-लक्षण में शब्दार्थ-साहित्य की 'अदोषता' और 'सगुणता' के साथ-साथ 'यथा-सम्भव किंवा यथास्थान अलंकृतता' की विशेषता का यदि कोई निर्देश न किया हुआ होता तब तो बहुत संभव था कि इसमें अलङ्कार और रीति-वादी आचार्यों की मान्यताओं की ही गन्ध आती। किन्तु 'यथासंभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' की विशेषता का उपादान—क्योंकि 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का अभिप्राय शब्द और अर्थ की 'यथास्थान अनलंकृतता' के अतिरिक्त और क्या! और 'यथास्थान अनलंकृतता' का निष्कर्ष 'यथास्थान किंवा यथासंभव अलंकृतता' ही तो है!—ऐसा है जिससे मम्मटकृत काव्य-लक्षण ध्वनि-वाद-सम्मत काव्य-लक्षण सिद्ध हो रहा है। 'शब्द और अर्थ की यथासंभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' का सिद्धान्त रसरूप अलङ्कार्य की मान्यता से संबद्ध है। यदि काव्य में अलङ्कार ही सब कुछ होता तब तो 'अनलंकृती पुनः क्वापि' उन्मत्त-प्रलाप-मात्र मान

लिया जाता। किन्तु ध्वनि-वाद की दृष्टि से अलङ्कार 'चारुत्वहेतुमात्र' हैं और इनसे जिसकी चारुता की वृद्धि संभव है वह काव्यात्मभूत रसरूप तत्त्व है जो अलङ्कार नहीं अपितु एकमात्र 'अलङ्कार्य' है। आचार्य मम्मट ने जैसे शब्दों और अर्थों की 'अदोषता' और 'सगुणता' को उनके स्वरूप से सम्बद्ध न मान कर उनके अभिव्यङ्ग्य रसरूप अर्थ से सम्बद्ध माना है वैसे ही उनकी 'समुचित अलंकृतता' को उनके स्वरूप से सम्बद्ध न मान कर रसरूप अलङ्कार्य से ही सम्बद्ध स्वीकार किया है। बिना रसरूप अलङ्कार्य की भावना के 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का न तो कोई प्रयोजन है और न कोई रहस्य! वस्तुतः 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इस विशेषण के उपादान से मम्मट के काव्य-लक्षण में काव्य-कला और काव्य-रस की कृति और अनुभूति दोनों की सुन्दर मीमांसा का रहस्य स्पष्ट खुल जाता है। मम्मट के लिये 'काव्य' न तो केवल सहृदय सामाजिक के हृदय में है और न केवल कवि के कौशल में। मम्मट की दृष्टि में काव्य उसके निर्माण के दृष्टिकोण से, ऐसी शब्दार्थ-योजना में रहा करता है जिसे स्थूल और सूक्ष्म—दोनों भावनाओं से दोष-रहित और गुण-सहित शब्दार्थ-रचना के रूप में देख सकते हैं और जहां तक उसके समुल्लास, उसके अनुभवगम्य सौन्दर्य का प्रश्न है उस दृष्टि-कोण से उसे उसकी रस-निर्भरता में ही पा सकते हैं जिसकी अपेक्षा सर्वत्र अलङ्कार-सहित शब्द और अर्थ की योजना सर्वथा अनपेक्षित है। 'यथा-संभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' यदि शब्द और अर्थ में आ गयी क्योंकि रस-समाहित चित्तकवि के लिये अलङ्कार-योजना, अलङ्कार्य रस-भाव के औचित्य और अनौचित्य का ही अनुसरण किया करती है और अनायास साध्य हुआ करती है तब सहृदय के लिये ही क्योंकर अलङ्कार-दर्शन अनिवार्य हो जाय! यदि मम्मट के मत में अलङ्कारों का सम्बन्ध शब्द और अर्थ के ही साथ होता जैसा कि अलङ्कार-वाद का सिद्धान्त रह चुका है तब तो 'सगुणौ' के साथ 'सालङ्कारौ' विशेषण में ही विशिष्ट शब्दार्थ साहित्यरूप काव्य की झांकी दिखायी पड़ती। किन्तु मम्मट के अनुसार अलङ्कार शब्द और अर्थ के चारुत्वाधायक अथवा चारुत्ववर्धक नहीं अपि तु रसभावादिरूप अलङ्कार्य के चारुत्व के वर्धक हुआ करते हैं। जो 'अलङ्कार्य' है वह तो रसभावादि रूप काव्यात्म-तत्त्व है, वह सर्वदा स्वभाव-सुन्दर है, उसका सौन्दर्यवर्द्धन तो एकमात्र उसकी उचित अलङ्कार-योजना से संभव है और साथ ही साथ यह भी संभव है कि अलङ्कार-योजना के अभाव में भी वह अपने स्वभाव के अनुसार सुन्दर ही लगा करे। महाकवि कालिदास की, रमणी-सौन्दर्य में, जो भावना रही है :—

> 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
> इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥'

(अभिज्ञानशाकुन्तल १. १७)

वही भावना, ध्वनि-दर्शी आचार्यों में, कविता-सौन्दर्य के सम्बन्ध में रहती आयी है। जैसे सुन्दर रमणी के लिये कभी उचितालङ्कार-योग सौन्दर्यवर्धक है वैसे ही कदाचित् चमकीले-भड़कीले अलङ्कारों का सर्वथा राहित्य भी सौन्दर्यवर्धक ही है। कविता में भी यही सौन्दर्य-दृष्टि सर्वथा लागू है। सुन्दर कविता के लिये वही अलङ्कार-योग शोभावर्धक हुआ करता है जो औचित्यपूर्ण हो। सुन्दर कविता, चमकीले-भड़कीले अलङ्कारों का, कभी ऐसा भी संभव है, सर्वथा परित्याग कर दे किन्तु इसमें उसका सौन्दर्य घटता नहीं अपि तु निखरता ही है। ध्वनि-दार्शनिक आनन्दवर्धन की

अलङ्कार-योजना में, जो दृष्टि रही है वही आचार्य मम्मट की भी है। आचार्य अभिनवगुप्त ने जिस दृष्टिकोण से कविता की सुन्दरता को बढ़ते देखा है उसी दृष्टिकोण को आचार्य मम्मट ने भी अपनाया है। आनन्दवर्धन ने विशिष्ट शब्दार्थरूप काव्य में, न तो कवि की दृष्टि से अलङ्कार-रचना को अनिवार्य देखा है और न सहृदय की ही दृष्टिसे अलङ्कार-दर्शन को काव्य का सौन्दर्य-दर्शन समझा है। उनका तो स्पष्ट कथन है :—

> रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्। अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥'

(ध्वन्यालोक, २य उद्योत)

जिसका एकमात्र तात्पर्य यही है कि अलङ्कार चारुत्व के हेतुरूप से ही प्रयुक्त और उपयुक्त हुआ करते हैं क्योंकि यदि अलङ्कार ही काव्य होता अथवा अलंकृत शब्दार्थरचना में ही काव्यत्व रहा करता तब तो न तो उसे चारुत्व-हेतु कहा जाया करता और न उसकी योजना में ही किसी अन्य रहस्य की खोज-बीन हुआ करती। अलङ्कार तो तभी वस्तुतः 'अलङ्कार' हुआ करते हैं जब उनकी योजना में रसभावादिरूप अलङ्कार्य के सौन्दर्य-वर्धन की चिन्ता रहा करती है।

अभिनवगुप्ताचार्य ने ध्वनि-तत्त्वदर्शी आनन्दवर्धन का ही युक्तिपूर्ण समर्थन करते हुये अलङ्कारों को रसभावादि का अभिव्यञ्जन-साधन माना है और इसी दृष्टि से उन्हें विशिष्ट शब्दार्थ-रूप काव्य की रचना में उपयुक्त सिद्ध किया है :—

> 'एतदुक्तं भवति—उपमया यदि वाच्योऽर्थोऽलङ्क्रियते, तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद्व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालङ्कार्यः। कटककेयूरादिभि-रपि हि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयाऽलङ्क्रि-यते। तथा हि—अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। नहि देहस्य किञ्चिद-नौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलंकृत इत्यभिमानात्।'

(ध्वन्यालोकलोचन, २य उद्योत)

अर्थात् 'आपाततः भले ही यह पता चले कि उपमा आदि अलङ्कार वाच्यार्थ के सौन्दर्याधायक अथवा सौन्दर्यवर्धक हुआ करते हैं किन्तु वस्तुतः इन अलङ्कारों द्वारा वाच्यार्थ की अभिवृद्ध सुन्दरता का अभिप्राय यही है कि वह (वाच्यार्थ) व्यङ्ग्यभूत अर्थ के अभिव्यञ्जन में अधिकाधिक समर्थ हो उठा है। अलंकृत वाच्यरूप अर्थ ही तो व्यङ्ग्यरूप अलङ्कार्य का अलङ्कार है। कटक, कुण्डल आदि अलङ्कार भले हो शरीर के अलङ्कार प्रतीत हों किन्तु अलंकृत शरीर के द्वारा अन्तरात्मतत्त्व ही अन्ततोगत्वा अलंकृत हुआ करता है क्योंकि इन अलङ्कारों की योजना में हृदय की चित्र-विचित्र वृत्तियाँ यदि नियामक न हों तो कोई भी अलङ्कार कहीं भी पहना जाया करे और तब भी शरीर सुन्दर ही लगा करे! किन्तु ऐसा होता कहाँ है? शवशरीर को आभूषणों से लाद दें तो वह सुन्दर कैसे लगने लगे! यतिशरीर में आभूषण पहना दिये जायँ तो उसमें सुन्दरता के बदले उपहासास्पदता दिखाई देने लगे! अलङ्कार-योजना तो आत्मतत्त्व के औचित्य पर निर्भर है न कि शरीर पर।'

मम्मट की अलङ्कार-दृष्टि में ध्वनि-वादी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अलङ्कार-स्वरूप झलक रहा

है और इसीलिए 'यथासंभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' की विशेषता ही शब्दार्थसाहित्य की 'सालङ्कारता' के रहस्य के रूप में प्रकट हो रही है।

मम्मट के आलोचकों ने 'यदा कदाचित् शब्दार्थ की अनलंकृतता' पर छींटे कसे हैं। विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के द्वारा उदाहृत 'यत्र कुत्रचित् अनलंकृत' काव्यबन्ध पर आक्षेप किये हैं। किन्तु इन आक्षेपों में जो बात स्पष्ट है वह यही है कि मम्मट का दृष्टिकोण ठीक-ठीक समझा नहीं गया है। मम्मट ने 'पुनः क्वापि अनलंकृती (शब्दार्थौ काव्यम्)' के उदाहरणरूप में यह काव्यबन्ध उद्धृत किया है :—

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवाऽस्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतस्समुत्कण्ठते ॥'

इस उदाहरण में शब्दार्थ की 'यत्र कुत्रचित् अनलंकृतता' में भी काव्यरूपता का रहस्य स्पष्ट झलक रहा है। यहाँ कवि ने किसी भी अलङ्कार की स्फुट योजना नहीं की, आलङ्कारिक जन यदि किसी अलङ्कार की छानबीन भी कर लें तो भी कवि की विवक्षा के न होने से उसका कोई महत्त्व नहीं। यहाँ मम्मट को काव्य की एक अलौकिक विशेषता—'अनलंकृतता में भी रमणीयता' की अनुभूति हुई है और इतनी गहरी अनुभूति हुई है कि इसकी सर्वजनसंवेद्यता में, इसकी व्यापकता में, उन्हें कोई सन्देह नहीं। यहाँ जो साहित्यिक सुन्दरता है जिसमें कवि की प्रयुक्त शब्दार्थरचना काव्य के रूप में झलकती है उसका एकमात्र निमित्त रस-सृष्टि है। यहाँ एक प्रेमिका की मनःस्थिति का ऐसा चित्रण है जिसमें कम से कम साधन प्रयुक्त किये गये हैं किन्तु रस-सृष्टि और रसानुभूति में कोई कमी न आई। प्राचीन आलङ्कारिकों के काव्यलक्षण इस काव्य को अपनी परिधि में नहीं रख सकते। यह कविता अथवा इस प्रकार की अनेकानेक कवितायें यदि किसी काव्य लक्षण में विश्लिष्ट की जा सकती हैं तो वह काव्य-लक्षण मम्मट का ही काव्य-लक्षण है। 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इस शब्दार्थ-विशेषण के उपादान में मम्मट की काव्य-तत्त्व-दृष्टि प्राचीन अलङ्कारशास्त्र की काव्यसम्बन्धी विशेषताओं को ऐतिहासिक अथवा व्यावहारिक मान्यता के रूप में देख रही है। काव्य की पारमार्थिक किंवा नित्यनियत विशेषता तो कवि की दृष्टि से रससृष्टि और सहृदय की दृष्टि से रसानुभूति है किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि काव्य का लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' ही मान लिया जाय। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' भी एक ऐसा ही काव्यलक्षण होगा जिसमें काव्यविशेष की कृति का विश्लेषण सहृदय-विशेष की अनुभूति का ही विश्लेषण होगा न कि और कुछ।

मम्मट का काव्यलक्षण काव्य की सभी विशेषताओं—सभी ऐतिहासिक किंवा वास्तविक काव्य-तत्त्वों का सर्वप्रथम विश्लेषण है किन्तु इसमें ऐसा कोई अहंभाव नहीं जिससे यह प्रकट हो जाय कि इसी में काव्य-रहस्य बाँध-छान कर रख दिया गया है। यदि ऐसी बात होती तो मम्मट जैसा काव्यशास्त्र का शास्त्रकार 'अनलंकृती पुनः क्वापि' जैसी रहस्य-भाषा का प्रयोग काव्य-लक्षण में कभी न करता। मम्मट की दूरदृष्टि तो 'काव्य' पर—रस-सृष्टि और रसानुभूति पर—टँगी है

किन्तु लक्षण-वाक्य में काव्य के माध्यमभूत तत्त्वों का विश्लेषण किया हुआ है। इन तत्त्वों के प्रसंख्यान में भी मम्मट को काव्य-रहस्य-भावना का ही हाथ दिखायी दे रहा है न कि काव्य-लक्षणकारिता का। काव्यलक्षणकारिता का भाव तो ऐसे काव्य-लक्षणों में झलका ही करता है :—

'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥' (सरस्वतीकण्ठाभरण)

जिनका अभिप्राय यही है कि काव्य के तत्व-प्रसंख्यान में ही काव्य-सर्वस्व की प्रत्यभिज्ञा समा जाती है।

मम्मट का काव्यलक्षण एक और रहस्य रखता है जिसे आधुनिक काव्य-मर्मज्ञ इस प्रकार प्रकट करना चाहते हैं :—

'Start then with the basic definition and add as many historical differentiæ as are necessary for distinguishing the body of poetry in question. If you insist on becoming more particular, you will find your definitions chapters of literary history. There is no definition of Shakespeare's poetry short of the complete poetical works of Shakespeare and a variorum commentary.'

Pottle—'The Idiom of Poetry.'

अर्थात् 'काव्य की यदि परिभाषा की जाय और अवश्य करनी चाहिये तब सब से पहले तो उसका आधारभूत विश्लेषण कर दिया जाय और बाद में जितनी भी काव्य की ऐतिहासिक विशेषतायें आवश्यक हों उन्हें भी उसमें जोड़ दिया जाय जिसमें काव्य-साहित्य का स्वरूप पता चल जाय। किन्तु यदि कोई यह सोचे कि उसका काव्यलक्षण सर्वथा सर्वलक्षण-दोष-रहित हो तब तो वह काव्य का लक्षण नहीं करता अपि तु काव्य शास्त्र के ऐतिहासिक अनुसन्धानों का लेखा-जोखा किया करता है। शेक्सपियर की कविता की परिभाषा शेक्सपियर के समस्त काव्य और उनकी बृहती विमर्शिनियों के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ?'

अपने काव्य-लक्षण में मम्मट ने भी यही सुदूरदर्शी दृष्टिकोण अपनाया है। मम्मट का काव्य-लक्षण न तो केवल कविता की भाषा को कविता की कसौटी मानता है और न केवल कविता की अनुभूतियों में कविता की रूप-रेखा रचता है। मम्मट के काव्यलक्षण का वास्तविक रहस्य यही है कि जिसे कविता कहा जाता है वह कोई अवाङ्मनसगोचर रहस्यमात्र नहीं, अपि तु वह वस्तु है जिसे कवि अपनी काव्यमय भाषा में सोच समझ कर प्रकाशित किया करता है। इस काव्य-लक्षण के द्वारा मम्मट का यही संकेत है जैसा कि आधुनिक पाश्चात्य काव्यलक्षणकार करना चाहते हैं :—

We must remind ourselves that the analysis which we have just been making is in the highest degree theoretical and abstract. The activity of the human mind is in fact a unit and a continuum. There is not in it a succession of aesthetic and practical moments. Reality lies in the complex and unanalyzed activity of the mind, but we

cannot talk about that reality without breaking it up into smaller and simpler units. The units are, admittedly, fictions, but it is the fate of all analysis of the mind to deal in fictions. All that I really wish to make clear is that what we call poetry must be seen, not as something occult and esoteric, but as portions of verbal experiences detaching themselves from the background of ordinary speech because of their greater richness and intensity.'

The Idiom of poetry.

४. मम्मट और 'शब्द'-रूप काव्योपकरण

अलङ्कारशास्त्र के उद्भव-काल में काव्य का अभिप्राय या तो 'सौशब्द्य' था या 'अर्थव्युत्पत्ति'। सहृदयों किंवा काव्य-शास्त्रियों का एक दल 'सौशब्द्य' को काव्य-सर्वस्व मान चुका था और दूसरा दल 'अर्थव्युत्पत्ति' में काव्य का कर्म खोज चुका था। इन दोनों पक्षों में समन्वय की स्थापना के लिये सर्वप्रथम आचार्य भामह ने प्रयत्न किया और **'शब्दार्थ साहित्य'** में काव्य की रूपरेखा के दर्शन का सम्प्रदाय चल निकला। आचार्य भामह की यह सूक्ति :—

'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते॥
रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः। न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे। सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी। शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥
शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्...............'

(काव्यालङ्कार १. ११-१६)

इस बात का स्पष्ट संकेत है कि अलङ्कारशास्त्र के आरम्भ-काल में कुछ आलङ्कारिकों ने 'काव्य' को 'सौशब्द्य'–सुप्तिङ्व्युत्पत्ति–से और कुछ ने 'अर्थव्युत्पत्ति' से अभिन्न मान रखा था। 'काव्य' शब्दार्थ साहित्य है–यह काव्य-सिद्धान्त इसलिये मान्य होना चाहिये क्योंकि शब्द और अर्थ अपृथक् सिद्ध सदा परस्परसंपृक्त तत्त्व हैं।

शब्दार्थ साहित्य में 'काव्य' के विचार-विमर्श में आलङ्कारिकों के विविध वाद प्रवर्तित होते चले गये। अलङ्कार-वाद के प्रथमाचार्य भामह की दृष्टि में निर्दुष्ट, स्फुट-मधुर किंवा अलंकृत पदावली का समुचित प्रयोग 'शब्दार्थ-साहित्य' रूप काव्य-रचना के लिये अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ :—

'एतद् ग्राह्यं सुरभिकुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम्॥' (काव्यालंकार १. ५९)

अर्थात् माला बनाने में जैसे किसी चतुर मालाकार के लिये सुन्दर-सुरभित फूलों का समुचित गुम्फन आवश्यक है वैसे ही 'शब्दार्थ-साहित्य' रूप काव्य-रचना में कवि के लिये भी स्फुट-मधुर किंवा अलंकृत पदों की संघटना अपेक्षित है।

अलङ्कार-वाद के परमाचार्य दण्डी ने 'शब्दार्थ साहित्य' के बदले **'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'** में काव्य-शरीर और अलङ्कारों में काव्य-सौन्दर्य का दर्शन किया :—

'तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥ (काव्यादर्श १. १०)

अलङ्कार-वादी आचार्यों की, अलङ्कार-जन्य पद शोभा में काव्य-स्वरूप की मान्यता से असन्तुष्ट होकर वामन ने 'रीति' में काव्य-स्वरूप के दर्शन का सम्प्रदाय चलाया। पदावली के सहज सौन्दर्य और आहार्य सौन्दर्य का विवेक प्रारम्भ हुआ। अलङ्कारों की सौन्दर्याधायकता आहार्य मानी गयी और गुणों को ही पद-सौन्दर्य का नैसर्गिक निमित्त स्वीकार किया गया :—

'युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥'

(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.१.२)

अलङ्कार-वादी किंवा रीति-वादी आचार्यों की इस काव्य-सम्बन्धी मान्यता में 'शब्दार्थ-साहित्य' का रहस्य एकमात्र अलङ्काररूप किंवा गुणरूप धर्म अथवा वैशिष्ट्य में ही अन्तर्भूत रहा। काव्य-कलाकार का इस वैशिष्ट्य से क्या सम्बन्ध है ? किस प्रकार काव्यकलाकार अलङ्कार अथवा गुणरूप धर्म से 'शब्दार्थ-साहित्य' रूप काव्य की सृष्टि करता है ? इन समस्याओं के चिन्तन में 'वक्रोक्ति-वाद' का जन्म हुआ। कवि की उक्ति-वक्रता कवि-प्रतिभा का प्रत्यक्ष अवतार मानी गयी। कवि की उक्ति-वक्रता अथवा वैदग्ध्यभङ्गीभणिति में ही यह सामर्थ्य स्वीकार किया गया जो 'शब्दार्थ-साहित्य' को वस्तुतः 'काव्य-विशिष्टसाहित्य' के रूप में झलका दे।

'मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः। अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः॥
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्। स्पर्द्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा। पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते॥'

(कुन्तकः वक्रोक्तिजीवित १म उन्मेष १७)

'काव्य' सामान्य शब्दार्थ-साहित्य नहीं अपितु 'विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य' है, ऐसा शब्दार्थ-साहित्य है जिसमें कवि की 'विदग्धता'–कवि-कला सौन्दर्य की सृष्टि किया करती है न कि ऐसा शब्दार्थ-साहित्य जिसमे अलङ्कारों की योजना की जाया करती है—इस वक्रोक्ति-वाद के सिद्धान्त में सौन्दर्य की अनुभूति का रहस्य अनिर्भिन्न हो रहा। काव्य से रस अथवा सौन्दर्य-रहस्य की अनुभूति के उद्घाटन में 'भुक्ति-वाद' का सम्प्रदाय भट्ट नायक के द्वारा चलाया गया। 'काव्य' के शब्द और अर्थ में भावना की शक्ति मानी गयी जिसका अन्तिम लक्ष्य रस-भोग सिद्ध किया गया।

उपर्युक्त सभी काव्य-वादों में इतना तो निश्चित है कि 'शब्दार्थ-साहित्य' में 'विशेषाधान' पर ही ध्यान रखा गया किन्तु 'काव्य' अथवा 'विशिष्ट-शब्दार्थ-साहित्य' में 'शब्द' और 'अर्थ' के काव्यगत किंवा स्वरूप-सम्बद्ध वैशिष्ट्य का कोई विचार नहीं हुआ। 'काव्य' क्या है ? कला और अनुभूति की दृष्टि से 'काव्य' का क्या रहस्य है ? काव्यसृष्टि के उपकरणों में 'शब्द' और 'अर्थ' का क्या वैशिष्ट्य है ? काव्य में शब्दसामान्य और शब्द-विशेष अथवा अर्थ-सामान्य और अर्थ-विशेष का क्या तारतम्य है ? इत्यादि विषयों के सामञ्जस्य-प्रतिपादन में 'ध्वनि-वाद' का उद्भव हुआ और